

॥ अर्हम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

* स्तोत्रत्रयी *

(सकलार्हस्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

॥ अहम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

* स्तोत्रत्रयी *

(सकलार्हतस्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगाणिविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सुणाव निवासी

धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य खीमचंदभाईनासुपुत्रौ
नगीनदास तेमना धर्मपत्नी कमलावेन
कान्तिलाल तेमना धर्मपत्नी शारदावेन

तथा

खीमचंदभाईनावडिल्वन्धुनासुपुत्र
मणिलाल चुनीलालना धर्मपत्नी भुरीवेन
उपरोक्त त्रणेना धर्मपत्नीओनी' अट्टाइतपनी
तपश्चर्या निमित्ते सादर सप्रेम
स्वाध्यायार्थे भेट ।

श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान मण्डार, अयपुर



आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

प वृ आचार्य श्रीविजयकन्धुमृगिप्रियरत्न



पन्थामप्रवर भीकीर्तिकन्धुविजयजी गणिवर

॥ अर्धम् ॥

श्रीविजय - नेमि - विज्ञान - कस्तूरसूरिसद्गुरुश्योनमः
कलिकालमर्षज श्रीहेमचन्द्राचार्यविगचिता-

* स्तोत्रत्रयी *

(सकलाऽर्धस्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि ।)

तपोगच्छाविपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्म-
चार्योचार्यवर्यश्रीद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारसमयजगान्तमूर्त्या-
चार्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरिश्वर-पट्टधर-सिद्धान्तमहोदधि-
प्राकृतविद्विगारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवरविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्या त्रिमूषिता ।

सम्पादक .—

विक्रम मवत् - २०१६

मुनि श्रीअजितचन्द्रविजयः ।

प्रकाशकीय

य पूज्य पन्थासम्पन्न श्रीकीर्तिकल्पनामक संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित—कविकाक-सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यनिर्मित—स्तोत्रोंमें, द्वात्रिंशिकाद्वयी (अभ्योगन्वव-च्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्यभोगन्ववच्छेदद्वात्रिंश) तथा धीतर/गायत्रके चार पुस्तकोंमें प्रकाशन हो चुके हैं। जिसका जैन समाज तथा अन्यसभी अच्छा स्वागत तथा आदर किया गया है। एवं विद्वानों-ने उत्कृष्ट मुद्रणसे प्रकाशकी है।

प्रस्तुत स्तोत्रयी नामके दो ग्रन्थोंके प्रकाशनमें उक्त पन्थास महाराजके द्वारा निर्मित श्रीकल्पनामक संस्कृतव्याख्या तथा हिन्दीभाषानुवादसहित उक्त आचार्यमहाराजके तीन सफर/रत्नात्र-वीरभिनस्तोत्र महादेवस्तोत्र—स्तोत्रोक्त समावेश किया गया है। ऐसे उक्त तीन स्तोत्रोक्त संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित एक पुस्तक तथा केवल हिन्दीव्याख्यासहित दूसरी पुस्तक।

सफर/रत्नात्र उक्त आचार्यमहाराजविरचित प्रसिद्ध ग्यान्-प्रमथ त्रिपक्षिसाक्यपुरपथरितका मंगलधारण है। इसका जैन समाजमें क्या स्थान है इस विषयमें कुछ कहना इस स्तोत्रकी प्रसिद्धि एवं आदर तथा प्रतिक्रमजक्रियामें अनिवायरूपसे पाठ्यक्रम-समावेशकी देखते हुए—एक भूष्टा प्रेमे ही होगी। इस स्तोत्रके

संस्कृत, हिन्दी तथा गुजराती व्याख्यासहित अनेक प्रकाशन अन्यत्र हो चुके हैं। फिरभी कीर्तिकलान्यास्याकी अपनी विलक्षणशैली, शब्द-प्रकरण आदिको ध्यानमें रखते हुए पदार्थ तथा भावार्थका स्पष्टीकरण, चमत्कारिक लोको, ऐसे मनोग्राह्य अर्थोंका विश्लेषण तथा कर्त्तिके भावोंका प्रामाणिकरूपसे अधिकाधिक अनुसरण - आदि सभी विशिष्टतायें द्वात्रिंशिकाद्वयी तथा वीतरागस्तवके जैसे ही इस पुस्तक में भी अपने उत्कृष्टरूपसे विद्यमान हैं।

वीरजिनस्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचितप्रसिद्ध परिशिष्ट-पर्वका मंगलचरण है। तथा इस स्तोत्रका सकलार्हस्तोत्रके साथ ही बड़े आदर एवं भक्तिसे पाठ किया जाता है—यह विदित है।

महादेवस्तोत्र, प्रायः अतिसरल समझे जानेके कारण आज तक किसीभी व्याख्याताओंको आकृष्ट नहीं कर सका था—ऐसी सम्भावनाकी जा सकती है। किन्तु यहाँ यह विशेषतः ध्यान देने योग्य है कि—इस स्तोत्रके कितने श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं जैन समाजकी भावनाओंको अक्षरदेहमें अत्यन्तसरल एवं प्रभावोत्पादक रीतिसे व्यक्तकरते हैं। जैसे—इस स्तोत्रके अन्तिमश्लोक। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह इस बातका प्रमाण है कि जैन विचारधारा व्यक्ति नहीं, किन्तु गुणको प्राधान्य देती है। इस स्तोत्रमें परमात्मा, अन्तरात्मा तथा बाह्यात्माका स्वरूप स्पष्टरूपसे बताया गया है। यहाँ बताये अर्थको देखते हुए ऐसा लगता है कि अन्यग्रन्थके टीकाकारों के बाह्यात्माकापदार्थ अनुमान पर आधारित है। यह, सरल जानकर

इस खोजकी फल पाठनमें उपेक्षापर परिणाम है ऐसा स्वर परिलक्षित होता है। तथा इस स्तोत्रकी कीर्तिकलाभ्याख्या अवलोकनक बाद यह प्रगट ही शत होता है कि छन्दकी दृष्टिसे सरल लगतेहुए भी यह स्तोत्र बर्षसे अत्यन्त सारगर्भित है। इसलिये कीर्तिकलाभ्याख्यासे इसस्तोत्रका महत्त्व प्रकाशमें आया है—यथा कथन कोई असुविधि नहीं। मैं अपनी योग्यताकी मयादाभासे परका हूँ। फिरभी इतनाता अवश्य ही समझता हूँ तथा कह सकना है कि कीर्तिकलाभ्याख्या सरल, सारगर्भित, उपयोगी एवं मञ्जसनीय है इतना ही नहीं किन्तु इससे निकालसे अपेक्षित तथा एक अत्यन्त आवश्यक व्याख्याकी पूर्ति हुई है।

कीर्तिकलासहित अन्य प्रकाशनाक जैसे ही इस प्रस्तुत प्रकाशनमेंभी श्रोतोंके द्वितीय भाषापरिचये गम है। तथा स्पष्ट रूपसे प्रत्येक पदार्थक प्रबुद्ध ज्ञान वा और इस प्रकार वाक्योंके समूह शब्दोंके अर्थज्ञानमेंभी उपयोगी है। इस दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थक अर्थ तथा समासवाले पदोंका प्रबुद्ध सङ्ग्रहित अर्थमें दिय गये हैं, जिससे विद्यार्थियों एवं सन्दर्भक विज्ञानुभोक्तृषु इस प्रकाशनकी सम्पादितामें इच्छा हुई है। जिससे बिना किसीके सहायताके ही स्पेकत्रक अथ सम्प्रां तथा सम्प्राया वा सकता है। यह बात पुस्तक टमनेक बाद स्वय ही प्रगट हो जाती है।

इस पुस्तककी इन सब विशेषताओंको देखते हुए इसके प्रकाशनका इच्छित सुभक्तर प्राप्त होनेसे मेरे लिये इतनासम्मान तथा

एक शुभकार्यमें भागलेनेके आनन्दका अनुभव होना सकारण ही है। पूर्वमेंभी कीर्तिकला सहित 'द्वान्विशिकाद्वयी' तथा कीर्तिकला संस्कृत व्याख्यानसहित 'वीतरागस्तव' के प्रकाशनका अमूल्य सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। वाचकाके द्वारा उसका आदर देखकर इस प्रकाशनके कार्यभारको द्विगुण उत्साहसे वहन करनेमें मैं समर्थ हुआ हूँ, जो स्वामाधिक ही है।

यहां पर, जिनकी अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय आर्थिक सहायताके बल पर इस 'स्रोत्रत्रयी' का प्रकाशन सुचारुरूपसे सम्भव हो सका, उन श्रीखीमचन्दभाई जेसगभाईका आभार सहित उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं समझा जायगा। श्रीखीमचन्द भाई एक धार्मिक प्रकृति, शुभकार्योंमें उत्साहसे भाग लेनेवाले, सफल व्यापारी तथा अत्यन्त भिलनसार हैं। आपका उपरोक्त गुणोंके कारण समाजमें एक विगिष्टस्थान है, जो स्पृहणीय माना जाता है। आप तीसवर्षकी अव्य अवस्थामें ही एक साहसिक व्यापारी होनेके कारण व्यापारके उद्देशसे आम्नीका गये थे। तथा सद्बुद्धि धार्मिक प्रकृति होनेके कारण आपने सुणावमें मन्दिर तथा उपाश्रयका निर्माणकर प्रचुर पुण्य एवं सुवशका लाभ किया है। आप शुभनाम 'मगीनदास' तथा कान्तिलाल इन दो सुपुत्रों तथा अन्य परिवारोंसे भरे पूरे हैं। तथा आपके ही चाचा श्रीमणिलाल जुनीलाल भाई हैं। जो स्वभावतः ही धार्मिक उत्साहवाले, सज्जन तथा आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्त हैं। इस प्रकार इन दोनों भाईयोंका सम्पूर्ण परिवार ही धार्मिक प्रवृत्तियोंके

अनुरागी तथा उनमें सोत्साह मागलेनेवाला है। इस प्रकारका आर्थिक सहायता देकर पूर्ण करनेके लिये मैं इनके लिये सहर्ष अपनी हस्तक्षेपता प्रगट करता हूँ।

यहाँ बापकोसे सानुनय निवेदन है कि यद्यपि मूक संशोधन आदिमें पूरी सहायता रस्ती गयी है फिर भी इष्टि तथा मुद्रण दोषों को अशुद्धि रह गयी है—उसके लिये सहानुमति पूर्वक क्षमा करेंगे। तथा साथमें दिये गये शुद्धिपत्रका सम्यक्तर उपयोग करेंगे।

अन्तमें इस भांति तथा विश्वासक साथ कि बापक तथा अध्यापक इस स्तोत्रत्रयीके अध्ययन तथा अध्यापनके द्वारा बड़ा सम्पन्न अवश्य ही अभिव्यक्तिक समान्ति होंगे, तथा इस प्रकार भीवीतरण विनेश्वरकी मच्छिसे अपनी आत्माको पवित्र करेंगे इति।

मन्दीय —

माईलास, अम्बाला,
पेटलधरदास

॥ शुद्धिपत्रम् ॥

सकलार्हस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृत व्याख्यासहितम् ।

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	७	भूमि	भूमी
३	११	सुवर्मेनु	सुवोमनु
३	१७	भूस	भूस्
४	२	सुवत्	सुवस्
४	११	स्तीति	स्तीति
९	१	लोत्पत्य	लोत्पत्त्वं
१२	१८	तिष्णी	तीष्णी
१४	५	यति	युति.
१५	१	(मद्रमित्यनन्तरम्-श्रियमितिपाठे तु अन्तरङ्गारिमथनसम्पद-मित्यर्थ , तस्य एव प्रकृतत्वादि बोध्यमि-त्यधिको बोध्यः ।)	
१५	३	शिवपोष	शिवश्रीपोष
१६	१५	व	व
३०	१६	मूलति	मूलयति
३१	११	निवर्त्तन	निवर्त्तन
३२	१	दुप	दूप
		महादेवस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृतव्याख्यासहितम् ।	
८	१४	नर्था	नर्था
८	१५	नन्तर	नन्तर
२७	१	त्रय	त्रय
२८	१५	पयेत	पयेत
२९	१	क्रिया	क्रिया
३३	७	चिह्न	चिह्न
३४	१६	एवैक	एवैक

३५	४	एषः	एषः
४२	१	पुष्पै	पुष्पै
४७	१	विडं	विडं
४९	१३	त्यथा	त्यथा
४६	९	एकमूर्ति	एकमूर्ति
		एकमूर्तिस्तानि कीर्तिकलाहिन्दीगणपानुवावसहितम् ।	
६	१९	दश	दश
५	५	स्वामिनी	स्वामिनी
५	१	ही	ही
२९		भरिष	भरिष

छादिपत्रम्

महादेवमूर्तेः कीर्तिकलाहिन्दीगणपानुवावसहितम् ।

७	५	मद्युक्तम्	मद्युक्तम्
१	९	वा	के
१	१०	है	है
९	२	वाले	वाले
११	३	मसार्थ	मसार्थ
१९	१	मय	मय
३५	७	प्रादिभि	प्रादिभि
४	११	एष	एष

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हस्तोत्रम् ॥

— * —

- ✓ सकलाऽर्हप्रतिष्ठानमधिष्ठान शिवश्रिय ।
सुभुव म्वत्तयीशानमार्हन्त्य प्रणिदध्महे ॥ १ ॥
- नामाऽऽकृतिद्रव्यभावे पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिर्जित समुपासहे ॥ २ ॥
- आदिम पृथिवीनाथमादिम निष्परिग्रहम् ।
आदिम तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिन म्नुम. ॥ ३ ॥
- अर्हन्तमजित विश्वकमलाकरभास्करम् ।
अन्लानकेवलाऽऽदृशीसङ्क्रान्तजगत स्तुवे ॥ ४ ॥
- विश्वभयजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ता ।
देवनाममये वाच श्रीसम्भवजगत्पते ॥ ५ ॥
- अनेकान्तमताऽम्भो विसमुल्लासनचन्द्रमा ।
दद्यादमन्दमानन्द भगवानभिनन्दन ॥ ६ ॥
- शुसत्किरीटआणाम्रोचेजिताङ्घ्रिनखावलि ।
भगवान् मुनित्यामी तनोत्त्रभिमतानि व ॥ ७ ॥

पद्मममममार्देहमास पुष्पन्तु व० श्रियम् ।
 अन्तरङ्गारिम्यने क्षेत्राऽऽयोपात्रिबाऽऽया ॥ ८ ॥
 भीष्मपात्रजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताह्रमये ।
 नमश्चतुर्धर्मसङ्घरागनाऽऽग्नेममास्वते ॥ ९ ॥
 अन्द्रममममोअन्द्रमरीचिनिचयोऽऽवला ।
 मूर्तिर्मूर्तिस्तित्वात्ननिर्मितेष श्रियेऽस्तु व ॥ १० ॥
 करामसकृद्द्विर्ष्व कल्पन् केवत्रभिया ।
 अचित्त्यमाहास्यनिधि सुविभिर्बोधमेऽस्तु व ॥ ११ ॥
 सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्रेदनवाऽऽपुत्र ।
 स्याद्वादाऽऽमृतनिःसन्दी क्षीतल पापु यो विन ॥ १२ ॥
 मवरोगार्धजन्तूनाम्गत्रद्धारदर्शन ।
 नि भेम्सतीरमण्यः भेयांस भेयसेऽस्तु व ॥ १३ ॥
 त्रिबोपकरकीमूकतीम्हृत्कर्मनिर्मिति ।
 सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनास्तु व ॥ १४ ॥
 विमलम्बस्मिगो वाच कृत्कश्चोदसोदरा ।
 अयन्ति त्रिभगचेतोयलनैमन्म्यहेतव ॥ १५ ॥
 स्वयम्भूरमणस्पधिः कुर्यात्सवारिणा ।
 अन्तन्त्रिदन्ता व० मयश्चतु सुखभियम् ॥ १६ ॥
 कल्पत्रममपमाप्यमिष्टप्राप्तौ धरीरिणाम् ।
 चतुपाधर्मदेष्टारं धमनाचतुपात्महे ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मळीकृतदिङ्मुख ।

मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु व. ॥ १८ ॥

श्रीकुण्डुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व. श्रिये ॥ १९ ॥

अरनाथ स भगवाश्चतुर्थाऽरनभोरवि ।

चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलस वितनोतु वः ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।

कमद्रन्मूलने हस्तिमल्ल मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।

मुनिमुव्रतनाथस्य देवनावचन स्तुमः ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमता मुग्धि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिप्लवा इव नमे पान्तु पादन्खाशवः ॥ २३ ॥

यदुवगसमुद्रेन्दु कर्मकक्षहुताशन ।

अरिष्टनेभिर्भगवान् मृयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

✓ कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित कर्म कुर्वति ।

प्रभुस्तुल्यमनोवृत्ति पार्श्वनाथ श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

✓ कृपाऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरताः ।

ईषद्वाप्यार्द्रयोर्भद्र श्रीवीरजिननेत्रयो ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हस्तोत्रम् ।

श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराजमराख्याऽहते नम ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधस्तामाममादिभं परमेष्ठिनाम् ।
देवाऽभिदेवं सर्वैः श्रीवीरं प्रजिद्विष्यदे ॥ २ ॥

कल्याणपादपाऽऽराम भुनगङ्गाहिमाचलम् ।
विश्वाऽम्भोधरविं देवे कन्द श्रीश्रावणन्दनम् ॥ ३ ॥

पान्तु व श्रीमहावीरम्बामिनो देष्टनागिरं ।
मन्यानामान्तरमसम्प्राञ्जलजलोष्मा ॥ ४ ॥

इति कल्पिलसप्तमं श्रीहेमकन्दार्पणविरचितं
श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ।



॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सरिसद्गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥

~*~*~

प्रगान्त दर्शन यस्य सर्वमृताऽभयप्रदम् ।

मङ्गल्यं च प्रगस्त च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरता गतः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महाज्ञान भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-ध्यान महादेव स उच्यते ॥ ३ ॥

महान्तस्तत्करा ये तु तिष्ठन्त स्वशरीरके ।

निर्जिता येन देवेन महादेव, स उच्यते ॥ ४ ॥

रागद्वेषी महामल्लो दुर्जयौ येन निर्जितौ ।

महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारका ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकाना मते मत ।

शब्दरते गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानालक्षणात्तया ।

मोहजाल हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव ! महाम्बुनिर्बन्धित ! ।
 महालोमनिन्सुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥
 महारागो महाद्वेषो महामोहस्तत्रैव च ।
 क्रियायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥
 महाकामो ब्रितो येन महामयनिर्बन्धित ।
 महाप्रतोपदेशी च महादेव स उच्यते ॥ १० ॥
 महास्त्रेभ्यो महामत्नो महामात्मा महाम्बु ।
 महास्त्रेभ्यो हृत्त्रे येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥
 महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महस्तथा ।
 महास्योगी महामौनी महादेव स उच्यते ॥ १२ ॥
 महावीर्यं महाभैरवं महाशीर्षं महागुण ।
 महामङ्गलमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥
 स्वयम्भूते यतो शानं लोकस्त्रेकमकमस्तकम् ।
 अनन्तवीर्यनारिषं स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥
 शिष्यो यस्माञ्चिन मोक्षः शङ्करश्च प्रकीर्तित ।
 कथात्सर्गा च पर्यङ्गी स्त्रीशस्त्रानिर्बन्धितः ॥ १५ ॥
 साक्षरोऽपि घनाक्षरो मूर्खोऽमृतस्तत्रैव च ।
 परमात्मा च ब्रह्मात्मा सोऽन्तरात्मा तत्रैव च ॥ १६ ॥
 वर्धनज्ञानस्यगेन परमात्माऽयमख्यस्य ।
 परा दान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

- परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ वाद्यात्मा तु भवान्तरे ।
 अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविध शिव ॥ १८ ॥
- सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।
 पञ्चदेहत्रिनिर्मुक्त सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥
- एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
 त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥
- एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
 परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २१ ॥
- कार्यं विष्णु क्रिया ब्रह्मा कारण तु महेश्वरः ।
 कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २२ ॥
- प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
 अग्निजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २३ ॥
- वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
 रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २४ ॥
- पेदास्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।
 मूल च जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २५ ॥
- रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।
 कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २६ ॥
- अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः ।
 तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्त्तिं कथं भवेत् १ ॥ २७ ॥

चतुर्भुजो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महाधर ।
 चतुर्भुजा भवेद्विष्णुरेकमूर्ति कथं भवेत् ॥ २८ ॥
 मधुरायाम् वातो ब्रह्मा, राजगृहे महधर ।
 द्वारतन्वाममूर्ध्विष्णुरेकमूर्ति कथं भवेत् ॥ २९ ॥
 हंसमानो भवेद्ब्रह्मा वृषयान्त्रे महाधर ।
 तार्क्ष्यभानो भवेद्विष्णुरेकमूर्ति कथं भवेत् ॥ ३० ॥
 पद्महस्ता भवेद्ब्रह्मा शूक्याणि महेश्वर ।
 चन्द्रपाणिर्मथेद्विष्णुरेकमूर्ति कथं भवेत् ॥ ३१ ॥
 कृते बभौ भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वर ।
 विष्णुश्च द्वापरे बभूव एकमूर्ति कथं भवेत् ॥ ३२ ॥
 ज्ञानं विष्णु सदा प्रोक्तं ब्रह्मा चरित्रमुच्यते ।
 सम्यक्त्वं तु शिव प्रोक्तमहंमूर्तिज्ञयात्मिकम् ॥ ३३ ॥
 क्षितिजलपक्वदुताशनयजमानाऽऽकृत्तसोमसूर्याग्ना ।
 झयेतेऽष्टौ मगधति गीता वीतरागे सुमुणा ॥ ३४ ॥
 क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्बलं मा च प्रसक्तता ।
 निःसक्तता भवेद्ब्राह्मणुवाशो श्लेग उच्यते ॥ ३५ ॥
 यजमानो भवेत्तस्या तथावानन्दयादिभिः ।
 अलेयकन्धावाकाशसद्भास सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥
 सौम्यमूर्तिठचिह्नन्त्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
 ज्ञानप्रकृतकस्येन स अद्वित्योऽभिधीयते ॥ ३७ ॥

- ✓ पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।
 अर्हस्तस्य नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥
- अकारेण भवेद्विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
 हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परम पदम् ॥ ३९ ॥
- अकार आदिधर्मस्य मोक्षम्य च प्रदेशक
 स्वरूप परमजानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥
- रूपिद्रव्यस्वरूप वा दृष्टा ज्ञानेन चक्षुषा ।
 दृष्टं लौकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥
- हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषदा ।
 हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥
- ✓ सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णं प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
 शाल्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥
- ✓ भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।
 ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥
- इति महादेवस्तोत्र समाप्तम् ।



अध्यात्मसार

कीर्तिप्रताप्यास्यासद्विः (यन्त्रस्वः) ।

(सम्पूर्ण-मार्गों में) ।

॥ अर्हन् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सुरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

✓सकलाऽर्हणाग्रभूमिं सकलाऽर्हगुणाकरान् ।

सकलाऽर्हधेयरूपान् नमामि सकलाऽर्हतः ॥ १ ॥

सकलाऽर्हद्भक्तिवशः पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।

सकलाऽर्हत्स्तोत्रस्य प्रकरोमि कीर्तिकलाऽभिधां व्याख्याम् ॥

अथ कलिकालसर्वज्ञो भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यलिषष्टिशलाका-
पुरुषचरित्र नाम महाप्रबन्ध चिकीर्षुर्विज्ञप्रशमनपूर्वकप्रारिप्सितपरि-
समाप्तिकामो मङ्गलमाचरन् कीर्तिनीयाश्चतुर्विंशतिमर्हत एव सकल-
मङ्गलाऽधिष्ठानतया सरस्वादी गुणा पूजास्थानमित्यार्हन्त्य प्रणिदधान
वाह—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।

भूर्भुवःस्वस्वयीशानमाहन्त्य प्रणिदधमहे ॥ १ ॥

सकलेति । सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानम् = सकलानां मूलवर्षपान
 मन्विष्यतां नत्वेकस्य द्वयोर्बहूनामेव वाऽर्हताम्, अर्हति सुरसु-
 नरेन्द्रादिहतां पूजामित्यर्हन्, कस्य च कस्य च कस्य चेति तेषामुपमादि-
 तीर्षाद्दरामामर्हत्प्रवाच्यत्वेन प्रसिद्धानाम्, यदुक्तम् — 'यस्मात्तर्हि
 पूजामर्हत्तेषोऽपमोऽपमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वा-
 नामि'ति । "पुष्यारिहिननाक्षरभोहरणद्दहत्वाऽमावासाऽर्हन् पृष्टे
 दरादित्वादि"ति कस्यचित्प्राप्त्याने शब्दव्युत्पादनोपमान्तरपरत्वं
 कथयित्वा । इत्युक्तानां व्युत्पत्तिनिष्पत्त्यादिभिः शोभन्
 शोभित्यादेशः शब्दव्युत्पादने यादृच्छक्युत्पत्तेरमोम्पत्तिरिति व्युत्पत्ति-
 निदः । तेषां सकलार्हतां प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठासाधनम्, पूजाहेतुरित्यर्थः ।
 अर्हन्त्यादेव अर्हन्, अन्यथा तु क. प्रतिविशेषः स्यादन्येभ्यस्तत् ।
 यद्वा सकल अर्हन्तः प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठत्स्येति क्तु आशय इत्यर्थः ।
 अर्हन्त्यं अर्हन्तु न स्यात्तर्हि कस्यचन स्यात् । एतेनाऽऽर्हन्त्यप्रतिष्ठाने
 शीघ्रमुक्तम् । यद्वि सकलाऽर्हतां प्रतिष्ठासाधनं, सकल अर्हन्तो वा
 यदाशयः, कस्य सकलानामेवाऽर्हतां प्रणिषेयत्वात्प्रणयप्रणिषेयत्वम् ।
 यदुक्तम् — 'प्रकर्षमाभारकं गुणजामि'ति । येन अन्यस्याऽपि
 प्रणिषेयत्वं कस्य स्वस्य सति किमु कस्यचित्ति चेति भावः । ननु
 मत्तु सत्सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानम्, न च तावता स्वस्य कोऽपि स्वयं,
 नवा प्रमोक्षमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्षत इति चेत्ताऽऽर्ह-शिवभिया
 दित्वा मिरुद्रवत्त्वानिरपामत्वाच्छुभगतिःसहस्रत्वाच्छुभप्रदत्वाच्च कर्म
 । अरजोपचाराच्छुभा या श्रीर्हन्तीनाऽतिशयादिसमृद्धिसत्त्वाः, सित्तयै-
 कान्तेन कस्याप्यमयत्वात्सोऽस्य या श्रीरनन्तशक्त्याऽऽलम्बान्वादि

समृद्धिस्तस्या वा, सर्वकल्याणमम्पद इत्यर्थः । “ध्व.श्रेयस इव भद्रं
 कल्याण मङ्गल शुभमि”ति, “शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव
 दृश्यत” इति चाऽमरः । अधिष्ठानम्=स्वस्मिन् याऽधिष्ठितरधिकं
 विशेषेणैतरविलक्षणतया स्थितिस्तत्साधनम् । अधितिप्रत्यस्मिन्निति कारणे
 कार्योपचारादधिष्ठानसाधनेऽधिष्ठानोक्तिः, आश्रय इत्यर्थः । अर्हत्स्वेव
 तादृशश्रीस्थितिः, तत्र हेतुश्चाऽऽर्हन्त्यमित्युपचारादार्हन्त्यमेव तदधिष्ठान-
 मिति हृदयम् । अर्हन्त्यादेव तादृशश्रीलाभो नाऽन्यथा, कथमन्यथा-
 र्हत्स्वेव तादृशश्री नाऽन्यत्रेति तादृशश्रीलाभ एवाऽसाधारणं प्रयोजन-
 मित्यतस्तदवश्यं प्रणिधेयं प्रेक्षावतेति भावः । तदेव गुणानुक्त्वा
 महिमानमाह—भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानम्—मूर्त्नागलोक, पातालमित्यर्थः ।
 भुवर्गमनुष्यलोक स्व. स्वर्गं तेषां त्रयी तस्या ईशानमीशित्वाऽनुगुणमहिम,
 धर्मधर्मिणोरभेदाद्धर्मी चेदीशानो धर्मोऽपीत्येवमुक्तिरिति बोध्यम् ।
 ईशानत्वप्रयोजकत्वात्तादर्थ्यात्ताच्छब्दश्च । अर्हन् हि भूर्भुव स्वस्त्र-
 यीशान, यदुक्तम्—“मूर्त्ना यन्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा”
 इति, “छत्रत्रयी त्रिभुवनप्रभुत्वप्रौढिशसिनी”ति च । न हि कोऽप्य-
 नीशानमानमति, य च सर्वे नमस्यन्ति स सर्वेषामीशानः, अत एव
 छत्रत्रयावतिशय इति ध्येयम् । “भूस, भुवसि”ति यथाक्रम
 नागलोकमनुष्यलोकवाचकविति सिद्धहेमवृहद्बृत्ति । “स्वरव्यय स्वर्ग-
 नाकत्रिदिवत्रिदशालया” इति चाऽमरः । महान् महिमाऽऽर्हन्त्यस्य,
 यदुत तत्प्रमावात्त्रिभुवनेशानत्वमिति भावः । यदपि समाधानम्—
 “अत्राद्यन्तयोर्भूस् स्वस्त्रयोः पातालनाकिलोकवाचकयोः सन्निध्यात्त-
 दन्तरालवर्तिभुवशब्दस्य मर्त्यलोकवाचकत्वमनन्यगतिकत्वेन नाऽयुक्त-

मिति । तत्राऽनन्यगतिक्त्वेनेत्यसमञ्जसम् । नहि गतिर्नास्तीति
 यादृच्छिकोऽर्थः कल्प्यते । अत्र च मुक्तुं शब्दस्य मर्त्यलोकात्
 उक्त्याहसपासमन्य एव गतिरिति कुतोऽनन्यगतिक्त्वमिति । विशेष-
 माह—आहन्त्यम्=अर्हतो मात्र कर्म चाऽऽहन्त्यम् । “अर्हस्तोत्र
 च” (सि हे ७ १-६२) इति दृष्टि न्तादेशे च सिध्यति । अत्र
 बीभ्याऽर्हच्छब्दप्रवृत्तिस्तदित्यर्थः । अह्वापनिष्ठयादि केकउऽनादिभ्यो
 याक्त् । अत्र, प्रथिदध्माहे=कर्मवाच्यमनोमिच्छन्मयात् साधयाम्, न
 हि सकामेऽसिद्धिः स्यादिति ह्ययम् । तद्वि माकूपत्वात्प्रथिपेनो
 नतूपात्तनादिकमाहतीति तत्रप्रिदध्माहे इति भावः । अस्मिस्तोत्रे सर्व-
 ऽनुष्टुप्छन्द ॥ १ ॥

तदेकमुक्त्यकरेण धर्मं स्तुत्वा धर्मिणं स्तौति—

नामाऽऽकृत्स्नव्यमावैः पुनरस्तिजगज्जनम् ।

द्येते काले च सर्वस्मिन्नर्हताः समुपासहे ॥ २ ॥

नामेति । सर्वस्मिन्=सर्वत्रैव, अथकत्रैकत्रैव वा, द्येते=
 मरुत्तमहानिदेहाद्यौ क्षेत्रफलवाच्ये, काले=अथसर्पिभ्यात्पात्मके द्वादशारे
 काले, चः समुच्ये तेन सर्वस्मिन्निति वेदकाकर्मोर्द्वयोर्विशेषणम्,
 सर्वस्मिन् द्येते सर्वस्मिन् काले चेत्यर्थः । स्तिजगज्जनम्=त्रयाणां
 नस्वेकस्य द्वयोरिव वा जगतां सुवमार्ता अने मया, ‘ध्येते अ-
 मया’ इति हेम । अत्र जनमिति सामान्योक्त्या देवाऽन्तराष्ट्रकेषु
 पक्षपाशाऽमात्रं सूच्यते । नामाऽऽकृत्स्नव्यमावैः=नाम नामनिक्षेपविश्व
 मरुत्तमहानीरतिः, अह्वापि स्वास्त्यनिरूपविषयोऽह्वापिमादिः, इत्यर्थः

ऽव्यनिक्षेपविषयः, यस्य जीवस्याऽर्हत्पर्यायो भावी स भविष्यदर्हज्जीव ।
 भावो भावनिक्षेपविषयोऽर्हत्पर्यायापन्नः समवसरणाद्यवस्थितोऽर्हन्,
 श्रेतैश्चतुर्भिः प्रकारैः पुनतः=शुचीकुर्वत, नामस्मरणादिना नाम्ना
 कृत्वा, आकृतेर्वन्दनपूजनादिनाऽऽकृत्वा कृत्वा, द्रव्यस्य पितृत्वपुत्रत्व-
 सख्यदास्योपचारपरिचरणादिना द्रव्येण कृत्वा, भावस्य देशनाश्रवणा-
 ऽतिशयादिना भावेन कृत्वा चाऽन्तर्देहिर्मलराहित्यं जायते जन्मयेति तैः
 प्रकारैर्हन् त्रिजगज्जन पुनातीत्युच्यते इति बोध्यम् । एतेन तेषा-
 ऽभवश्यसमुपास्यत्व सूच्यते । येन हि स्वस्य पवित्रीकरणं सोऽवश्यं
 सेवनीयो भवति मतिमताम्, अतस्तादृशान्, अर्हतः=अर्हत्पदवाच्या-
 नृपमादितीर्थकृतः, समुपास्यहे=सम्यग् भक्तिश्रद्धादिनिर्भरतया पर्युपा-
 स्यहे, यथा पवित्रीकृताः स्थान इति हृदयम् । त्रिजगत्पवित्रीकरणलक्षणं
 वैलक्षण्यमर्हतोऽसाधारणमिति तात्पर्यम् । यद्यपि सर्वत्र सर्वदा च न
 भावाऽर्हतो विद्यमानता, तथापि नाम्नाऽऽकृत्वा द्रव्येण च पवित्रीकार-
 क्रियासम्पत्तेः कापि भावेन च तत्सम्पत्तेस्तैश्चतुर्भिः पवित्रीकरणस्य
 सामान्यत उक्तिर्युज्यत एव । नहि सर्वदा सर्वत्र च तच्चतुष्टये तात्पर्य-
 मसम्भवादिति ध्येयम् ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण सामान्यतोऽर्हतः स्तुत्वा तद्विशेषान्
 यथाक्रमं स्तुवन्नादौ प्रथममृपमनाथं स्तौति—

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।

आदिमं तीर्थनाथं च ऋपमस्तामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

आदिममिति । आदिमम्=आदौ गत्र आदिम
 तादृशम्, पृथिवीनाथम्=पृथिव्या नाथ ईश इति तम्, युग्यौ
 पृथिव्यां न कोऽपि एवाऽऽसीत् । कल्पमानासोकेऽप्यवस्थाम् =
 तामां तन्नियमनायेन्द्रादिभि र्भ्रमनापस्त्य रक्ष्यामिपेकम् इत्यादि
 वर्णिसमिति बोध्यम् । ननु पृथिवीनाथो न स्तुतिपात्रं साप्तामि
 कप्रमनाऽमावादानुष्किककामनायास्ततोऽसिद्धेभ्येत्यत आह—आदिमम्
 प्रथमम्, निप्यरिग्रहम्=परिग्रहो धाराऽगारादिस्वामित्वा, सप्तर्षि
 रहितो निप्यरिग्रहो निर्मन्वस्तम्, युग्यौ स एव सर्वप्रथम परिग्रह
 वान्तित्यागम इति बाध्यम् । ननु ग्रहयो निप्यरिग्रहा इति न तत्र
 कस्याऽपि निप्यरिग्रहेण सुख्यताऽऽयाति समानत्वादित्यत आह—
 आदिमं तीर्थनाथम्=तीर्थं सानुसाध्वीमाकम्माविकर्षणं समुद्र
 तमक सङ्घस्तस्य गम्य इव विविनिवेधीपदेककत्वात्तापस्तीर्थद्वर इत्यर्थः ।
 एकेनन्तिकामरैस्तीर्थं प्रवर्त्तयेति प्रापित भवमनाथ प्रवर्त्तितवान् । केक
 पासघनन्तरं च समवसरणे तेन कृत्वा देवतया प्रसुद्धानां गृही
 म्हात्मनाऽणुक्तानां प्रभोर्षिद्वारकक्षे चतुर्कर्म सङ्घःप्रावृत्तित्वागम
 चः समुच्चये । प्रथमन्तिरेकयोक्त्याऽपि सर्वत्र तदन्वयेनेष्टं सिद्धये
 मर्थे, तथापि सर्वत्र प्राथम्यरूपेतरकैककल्पसुधनायाऽस्तुतिर्नि
 बाध्यम् । स क इत्यपेक्षयामाह—अत्रमस्वामिनम्=प्रथमस्तुत्यान्
 प्रथमस्तीर्थद्वर, अस्मिन् गमस्ये अन्वा स्वमे प्रथमसुपमवर्त्तनाहम-
 साम्प्रतत्वाच्च वितुन्मसुपमेति ह्यामिस्त्व., स पाऽभौ स्वामिद्वरद्वार-
 प्रवर्त्तनादिनोपदेसादिना च प.कत्वात्स्थामी, तम् स्तुतः=कीर्त्त-
 याम । कीर्त्तनं योक्तवितुद्यगुणविधिद्वयमुत्सेनैवेति बोध्यम् ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयमजितनिन स्तुवनाह—

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।

अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

अर्हन्तमिति । विश्वकमलाकरभास्करम्=विश्वं जगत् ।

तात्पर्यात्ताच्छब्दमिति जगत्जीवसमुदयः कमलानां स्वनामख्यातानां पुष्पविशेषाणाम्=पङ्कजानामाकर खनिरिव, तस्य प्रबोधकत्वात्तत्सम्बन्धी भास्करः सूर्य इव भास्कर इति गौणी लक्षणा, त तादृशम् । यथा हि सूर्य स्वकिरणैः कमलानि प्रबोधयति=विकासयति, तथाऽयं जनान् देशनावाग्भिः प्रबोधयति=प्रबोधं ददातीति क्रियासाम्यादुपमा । सा च कमलप्रबोधोऽन्यो जगत्प्रबोधश्चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसाय-रूपाऽतिशयोक्तचनुप्राणिता । एतेन तस्य तादृशी देशनावाग्यया विश्वं प्रबोधयति इति वचनाऽतिशय सूच्यते । “स्यादाकरः खनिः खनिरि”ति हेमः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्=अम्लानोऽमल, अतिस्वच्छ इत्यर्थ, तादृशो यः केवल तदाख्यं क्षाधिकं ज्ञानमादर्शो दर्पण इव, तत्र सङ्क्रान्तं विषयतया प्रतिबिम्बितं जगत्तात्पर्यात्ताच्छब्दमिति जगत्प्रबोधसार्थो यस्य तं तादृशम् । अत्राऽम्लानेति न केवलविशेषणमव्यभिचारात्सम्भव-व्यभिचाराभ्यां विशेषणस्य सार्थक्यात् । आदर्शविशेषणं तु युज्यते, तादृशश्चैव स केवलज्ञानोपमानं भवितुमर्हति, तस्यैव च प्रतिबिम्ब-सङ्क्रान्तियोग्यताऽपि । किन्तु तथा सति तस्य केवलप्रदानन्तरमादर्श-पदसमभिव्याहारेण प्रयोग उचितः । तथाप्येकत्रैवित्यादन्वयत्नं च तथा-

स्वाभावाद्धिमं केवळमिति लोपञ्चया च समस्तस्य केवळद्वयेति
 पक्षस्यैव तद्विशेषमिति बोध्यम् । अत्र कवचस्याऽऽर्घ्यत्वस्यैव तत्र
 भगवत्प्रतिबिम्बीमात्र उचित एव । किन्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बीमात्राऽत्र
 आदर्शे नाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिमूल-
 पना । एवञ्च यस्य ज्ञाने जगत्सद्धान्तं तस्य जगत्प्रबोधकत्वं नाऽस्म-
 क्तमिति जगत्प्रबोधे ज्ञानं जगत्सद्धान्तेर्हेतुमात्रात्प्रार्थित्वेत्तुं कथं
 सिद्धम् । तथाऽतिशयोक्त्यनुमानितोपमोक्षीविषमिति सद्हर । एतेन
 तस्य जगत्प्रबोधकं ज्ञानमिति ज्ञानाऽतिशयो ध्वन्यते । “दर्पणे मुकुटा-
 ऽऽर्घ्याणि त्स्मर । अत एव, अर्हन्तम्=सुरासुरनरेन्द्रादिकृता
 पूजामर्हतीति तादृशम् तीर्थहरमित्यर्थ । यो हि किम्बोधक-
 केवळज्ञानवान् सोऽर्हन्नेव मक्तीति भावः । यो हि सर्वेषामुपदेष्टक-
 त्वस्य सर्वे कृता पूजा युज्यते एवेति पूजातिशयो ध्वन्यते । ईश-
 क्तव्यैस्त्रिष्टयहेतुनिशासानिष्टयै विशेष्यकृत्वापूरणाप चाऽऽह—
 अश्रितम्=न श्रितो बन्धीकृतो रागद्विमि बांहाऽऽन्तरातिभिरिति स
 इत्यन्वर्थाऽश्रितत्वात्मा द्वितीयस्तीर्थहरः अस्मिन् गर्भस्थे अननी एते
 मया न श्रितेति सबनुसारेण शिवा कृताऽश्रिताऽमित्यर्थ, तम् । यो हि
 वैरश्रितस्ते तेनैव श्रिता इति यो शीतराग स एषोक्तविशेषणमर्हति
 नाऽन्य इति भावः । एतेनाऽप्याऽप्यगमाऽतिशयो ध्वन्यते । स्तुवे=
 स्तुतिविषयीकरोमि । अत्रैकत्रयं पूर्वत्र च बहुवचनमित्यसङ्गतिर्नो
 शक्यतीया एकस्मित्येऽप्यसङ्गा बहुवचनाऽनुशासनात् एकश्रोऽपि
 समापेयम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयं श्रीसम्भवजिन स्तुवन्नाह—

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।

देशनासमये वाचःश्रीमम्भवजरात्पतेः ॥ ५ ॥

विक्षेति । देशनासमये—देशना दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विध-
धर्मोपदेश, यदुक्तम्—‘ दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये
युगपदास्यातु चतुर्वक्तोऽभवद्भवानि ”ति । केवलोत्पत्यनन्तर देवैर्विकृते
समवसरणे केवलिना जिनेश्वरेण दीयमानं प्रवचनं देशनेति प्रसिद्धमिति
बोध्यम् । तस्या देशनाया य समय कालस्तस्मिन्, देशनासमयमवा
इत्यर्थः । यद्वा देशनाया य समय सङ्घेते आगमादिरूपेण प्रवृत्तः
सम्प्रदायस्तस्मिन्तत्र वर्धमाना श्रुतरूपा वाच, ताः=प्रसिद्धाः, बहु-
विधत्वान्नाविधाः श्रोत्रनुकूलमापापरिणतिशीलत्वाच्च नानामकारा,
यदुक्तम्—“ देवा देवीं नरा नारीमसुरा आसुरीं तथा । तिर्यञ्चोऽपि
च तैरर्थां मेनिरे भगवद्विरमि ”ति । ततश्चाऽखिलव्यापिलक्षणत्वाद-
निर्वचनीया इत्यर्थः । ननु भवतु तास्तथा, तेनाऽऽसाक को लाभ
इत्यतो विशेषणमाह—विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्याः=विश्वे
सर्वे ये भव्याः सेत्स्यन्तो जना, सेत्स्यन् भव्योऽन्योऽभव्य इति हि
सम्प्रदाय । विश्वे जगति ये भव्या जना इति वा, त आरामा उप-
वनानीव, वाक्सलिलसेचनादिना पोषादिमत्त्वसाधर्म्यात् । “ आरामः
स्यादुपवनमि ”त्यमरः । तेषा कुल्यातुल्या उद्यानसारिणीसन्निभा ।
यथा हि सारिणीसलिलसेकेनोपवनवृक्षलतादयो वर्धन्ते पुष्पफलादि-
समृद्धिमन्तश्च जायन्ते, तथा भगवद्वच प्रतिपाद्यधर्मसम्पर्कमेतय भव्य-

अथा उक्तोत्तरं गुणवृद्धिमाप्नुवन्ति मुक्त्यारिफलसमुदायं मर्त्याः
 सुपूरुषं 'विष्णुम्वचनाऽऽरामरुक्षातुस्या' इति । "वसे कुम्भ
 सारगिरि"ति हैम । भीसग्भवजगत्पतेः=भगतां तदुपदेशेन
 पाठकृत्वात्यतिरिक्तं जगत्पतिः, भिया सहस्रायनिश्चरुपया धृष्टिधार्ज्यं
 सम्मलनदात्मस्तुनीमस्तीवैहरः, भामिन् गम्ये रामे सर्वं वर-
 धान्यादिता समवद्विनि पितृभ्यां तनुसारेण सम्भव इति सम्भव ति
 य इत्याऽभिप्रेय, स वाऽसी वागपतिश्च तस्य । वाचा=उपरि-
 वाच्य, मन्वन्तानीति वा, जयन्ति-सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । गुरु-
 वैशिष्ट्यस्याऽप्यत्राऽऽवामात् । यदुक्तम्— "अयत्तभृष्यं किं । उक्तं
 ते" इति भावः । पतेन वागनिष्ठम प्रतिपादित, निष्कसाहर्ष-
 क्तरंऽप्यतिष्ठवा प्रविपात्रिषा बोध्या । यथा यं मन्वन्तानीति
 श्रुत्यस्या य फस्याप्यदेतुस्तस्य कर्ममाय इत्यपस्याऽपगम्यऽस्तिष्ठन्,
 भगतां परिर्भगत्सुम् एव मन्तीनि पूजाऽनिष्ठवाः, केवन्तेत्यस्तस्य
 देवमेति देवनासमये इत्यनेन तत्पूर्वगाभितया ज्ञानाऽनिष्ठमथ प्रति-
 दितोऽपगच्छन्तः ॥ ५ ॥

अथ चतुर्भयनिन्दनविनं स्तौति
 अनेकान्तमहाऽन्मोघिसमुच्छासनचन्द्रमाः ।
 दधत्तमन्दमानन्दं मगवानमिनन्दनः ॥ ६ ॥

अनेकेति । अनेकान्तमहाऽन्मोघिसमुच्छासनचन्द्रमाः
 अनेकज्ञाना अविच्छा सत्सत्कीवत्वावयो विरुद्धा नित्यानित्यस्य
 सत्सत्तामान्यविशेषाऽभिन्नेष्याऽभिन्नेष्याऽप्यस्वमेवाऽमेदत्तयो धर्मा अन्त-

पर्यवसिता एकस्मिन्नेव वस्तुनि=अपेक्षामेदेनाऽविरुद्धतया समावेशा-
 स्तिद्धान्तविषयीकृता यस्मिंस्तदनेकान्तम्, तच्च तन्मतं वादश्चाऽने-
 कान्तमतं स्याद्वादः, यदुक्तम्—“स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं
 न वाच्यं सदसत्तदेव”ति “अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्व-
 मरूपपादमि”ति च । नित्यानित्यत्वादीनामेकस्मिन् समावेशप्रकारश्च
 मत्कृताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वारात्रिशिकाकीर्तिकलातोऽवसेयः । “मृताव-
 वसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यत” इति विश्वः । तदेव चाऽङ्गोपाङ्गा-
 दतिवित्कृततया नयमङ्गादिकलोलमालाऽऽकुलतया मिथ्यात्वमतिदुर-
 धिगमतया चाऽम्भोधि पारावार इव, तस्य समुद्रासने देशनावाक्च-
 न्द्रिकामि समुत्कर्षसमापादने चन्द्रमाश्चन्द्र इव । चन्द्रेण हि समुद्रस्यो-
 छासनं प्रसिद्धम्, तद्वदनेनाऽप्यनेकान्तमतोच्छासनं इत्युपमा, सा च
 समुद्रोच्छासनमन्यदनेकान्तमतोच्छासनं चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदरूपा-
 ऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । चन्द्ररूप इत्यर्थे तु पूर्वत्राऽम्भोधिरूप इत्यर्थो
 बोध्यः । ततश्च परम्परितरूपकाऽलङ्कारः । अत्र पक्षे च चन्द्रेण
 समुद्रस्योच्छासनमुचितमेवेति भावः । “हिमाशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र” इत्यमरः ।
 यद्वा—अनेके, अन्ता अम्यते गम्यते प्रतीयत इत्यन्ता धर्मा विरुद्धा
 अविरुद्धाश्च, तेषां यन्मतमेकस्मिन्नेव वस्तुन्यपेक्षामेदेनाऽविरुद्धतया
 कथञ्चित्समावेशास्वीकारः, अनेकान्तवादः स्याद्वादाऽपरपर्याय इत्यपि
 व्याख्यानम् । शेषं पूर्ववत् । अत्र हेतुगर्भमपर विशेषणमाह—
 भगवान्=प्रशस्तो भूमा च भगो ज्ञानादिरस्त्यस्येति स तादृशः ।
 यदुक्तम्—“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य तपसःशिवः । जानवैराभ्ययो-
 श्चैव पण्णा भग इतीरणे”ति । प्रशस्तभूमज्ञानादिमतोऽनेकान्तमतसमु-

असने नास्तिविति माव । विशेषमाह — अमिनन्दनः=क्यात्म
 स्तुतीयस्तीर्णहरः अस्मिन् गभस्त्रे रज्ये सर्वतोऽप्यानन्दमावात्पितृभ्यो
 तदनुसारेण ह्वाऽमिनन्दनाऽमित्यर्थः, अमिनन्दकृतीत्यमिनन्दन इत्य-
 न्वर्धनामत्यर्थः । नन्वपितृत्वात् । अमन्द=न मन्दमस्वममन्दमन्स्वम्,
 साभताऽस्वण्डतयाऽनन्तमित्यर्थः । अन्वाहश्चस्वनिन्स्वादिना मन्द
 एवेति बोध्यम् । आनन्दम्=सुखम्, “स्वादानन्दपुरानन्द ईर्ष्य
 साकमुत्थानि चे”त्यमरः । दद्यात्=ददातु मार्भ्यासां सप्तमी तत्र
 मार्भ्यैव क्षत्र्या न तु मेरणेति बोध्यम् । आनन्दप्रदानमर्भ्येन प
 तस्याऽन्वर्धनामता अन्वयेते । अत्र श्लाऽस्तिष्ठत्य मतिपादितः, इत्ये
 ऽप्यभिष्टया म्यास्तिन्वामेनोपक्षिप्ता वेदनीया । किञ्चाऽऽनन्दप्रदा-
 ञ्यमाऽनुपपत्त्या तस्य माऽप्याय इत्यप्याऽपगमाऽस्तिष्ठत्य, मगत्सदेन
 तु सर्वे एवाऽस्तिष्ठत्या मतिपादित्या बोध्या ॥ ६ ॥

अत्र पक्षमे सुमतिजिने सूत्रमाह—

घुसत्किरीटश्याणोषेजिताहृद्घिनस्वावलिः ।

मगवान् सुमतिस्वामी धनोत्सवमिमवानि वः ॥ ७ ॥

घुसतिरिति । घुसत्किरीटश्याणोषेजिताहृद्घिनस्वावलिः=
 दिशि सीदन्ति इति ते तावृक्षा कुज्वा देवा सेन्द्रान्तेपां किरीट्यानि
 मुकुटान्येव कठिनत्वापीक्षीकरज्योम्भत्वात् श्याणा अन्नादितिङ्गी-
 करसाभनकण्ठेपद्मस्तेषाममैरममागैः क्षेदिभिरित्यर्थः । उषेजिता
 निरन्तरसंपद्मनात्मक्यर्षणस्तत्प्रवापादमेन तीक्ष्णीकृताऽस्त एव वीक्ष्य-
 तिष्ठत्यसम्पत्ता मीताऽहृदोः पादयोर्नम्नानामावलिः पद्मिर्नस्य च

तादृशः । देवा हि भगवन्त भक्तिश्चद्वाऽतिशयादतिसान्निध्येन तथा
 प्रणमन्ति यथा तेषां किरीटाग्राणि भगवदङ्घ्रिनखसङ्गतानि भवन्ति,
 ततश्च मुहुर्मुहुस्तथासंघट्टनेन नखाना तानव दीप्तिविशेषश्च जायते ।
 शणाऽप्ये वर्षणेन शस्त्रादीनामुत्तेजन प्रसिद्धमेव । अत्र शस्त्राणामुत्ते-
 जनमन्यन्नखानां चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायमूलाऽतिश-
 योक्तिर्जीवित किरीटशाणेतिरूपकम् । “आदितेया दिविषद” इति,
 “पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि”ति चाऽमर । अत्र पूजाऽतिशयः प्रति-
 पादित । “मुकुट पुन । मौलि किरीट कोटीरमुष्णीषमि”ति,
 “शाणस्तु निकष कप” इति च हैम । देवकृतप्रणामसमर्थनाय विशेष-
 णान्तरमाह—**भगवान्**=सहजाद्यतिशयाद्यैध्वर्यादिसमन्वितः, **सुमति-**
स्वामी=सुशोभना केवलाख्या मतिर्ज्ञान यस्येत्यन्वर्थनामा, अस्मिन्
 गर्भस्थे मातुः सुमतिभावात्पितृभ्या तदनुसारेण सुमतिरिति कृताऽभि-
 ख्यश्च सुमतिनामा पञ्चमस्तीर्थकृतस चाऽसौ स्वामिवत्पालकत्वात्स्वामी
 सः, एतेन ज्ञानाऽतिशयः प्रतिपादितः । **वाः**= स्तोत्राणा वाचकाना च,
अभिमतानि=अभीष्टानि, बहुवचनेन सर्वाऽभीष्टप्रदत्व सूच्यते ।
तनोतु=सम्पादयतु । यो ह्यभिमतप्रदः सोऽवश्य स्वय निरपायः
 स्यादित्यपयाऽपगमाऽतिशयः सूचितः । वागतिशयश्च साहचर्याद्
 भगवत्पदमहिम्ना च सूचितोऽवगन्तव्यः । तदेवमजितस्वामिस्तुतौ ज्ञाना-
 ऽतिशयः सम्भवजिनस्तुतौ वागतिशयोऽमिनन्दनजिनस्तुतावपायाऽप-
 गमाऽतिशयः सुमतिस्वामिस्तुतौ च पूजातिशयः क्रमशः कण्ठरवेण प्रति-
 पादितोऽवगन्तव्य ॥ ७ ॥

एव च पद्यप्रमथने सुकलाह—

पद्यप्रमथनोर्देहमासः पुष्पन्तु वः प्रियम् ।

अन्तरङ्गारिमथने कोपाऽऽटोपादिवाञ्छमाः ॥ ८ ॥

पथेति । पद्यप्रमथनोः=पद्यस्य कर्मण्यस्य प्रथेव प्रमा यतिः=
अरुणधुतिर्यस्य स तादृश इत्यन्वयनामता सूच्यते । क्वाऽस्मिन् गर्भस्य
मातु पद्यस्योद्देशवशात्पितृभ्यां त्वनुसारेण पद्यमेति कृताभिस्त्र
पद्यस्तीर्षिह्वर, स पाऽसौ प्रमथति अन्तर्दिना बगस्तिवति प्रमुरनि-
पतिः, तस्य, 'सु प्रमास्तुपिस्त्रिभ्यमात्माश्चविधुक्तिरीषय' इति
"मनु, परिश्रुतोऽपि" इति चामर । अन्तरङ्गारिमथने=अन्तर-
ङ्गानीधेत्पन्तरङ्गा, अङ्गानि यथा क्षीरान्तःस्वस्वस्तिवतिहितानि तत्र
मेऽन्तरात्मसम्बद्धत्ववृत्तिसिद्धिर्हिता इत्यन्तरङ्गा अतिसिद्धिर्हिता आत्म
सम्बद्धा अम्युद्यमनि भेदपरिष्विन्वितादरस्य रिपव इव कर्मकलावा-
दस्तेषां मथनं मूढान्मुञ्चन विषये कोपाऽऽटोपादिव=कोप-
कोपस्तास्य य आटोप आनेसस्तस्मादेतारिवेति हेतूत्प्रेष्य । उक्तं च
जिनानां कर्मादीनां समुत्थन्मुञ्चनं यथा— तयो माऽन्य कर्मकश्च-
मुन्मुस्मति मूढस्य इति । कोपकोपाऽमर्षोप" इत्यमर ।
'भावसाऽऽटोपे संरम्भे इति ईम । अरुणाः=पद्यप्रमथनस्य
सर्गश्लोका श्लोका कोकनदच्छति । अन्तरङ्गास्तत्पर्यय" इत्यमरः ।
वैरिमथनप्रवृत्तानां कोपावेसान्मुत्थनेत्राधारुष्यं प्रमिद्यम् । अस्य तु
कोपाटोपात्ताऽऽपिमा किन्तु सामासिकीत्यनाम्पिस्त्राप्यस्तस्यादत्तुत्प्रेष्यता ।
श्लोच्यमाह—देहमासः=शरीरच्छेदम, वः=स्वोपमात्मन्येषां च,

शिवम्=भद्रम्, पुष्पान्तु=परोत्कर्षमानयन्तु, पद्मप्रभप्रभोर्दर्शने तादृश्य-
स्तद्देहभासो मनोज्ञत्वादहृत्यनुरागविशेष जनयन्ति, अहृद्भक्त्यादिना
च शिवपोषः प्रसिद्ध एवेति भावः । अत्र कोपादन्तरङ्गारिमथने आरु-
ण्यस्य कोपहेतुत्प्रेक्षा न सङ्गच्छते । यो हि यं मथ्नाति स तस्य
प्रमुरिति तस्य तेन प्रभावितत्वोत्प्रेक्षा न मनः प्रीणयत्यनुचितत्वात् ।
किञ्च कोपान्मुक्त्वादीनामेवाऽरुणिमा प्रसिद्धो न तु देहस्येति सुधीभि-
र्विभावनीयम् ॥ ८ ॥

अथ सप्तमं सुपार्श्वजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्गहये ।

नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

श्रीसुपार्श्वेति । चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते=चत्वारो
वर्णाः प्रकारा साधुसाध्वीश्रावकश्राद्धिकारूपा यस्मिन् स तादृशश्चा-
ऽसौ सङ्घश्च स साध्वादीना बहुसङ्घयकत्वान्महत्त्वाद् गगनस्याऽऽका-
शस्याऽऽभोगो विस्तारस्तस्य भास्वानिव प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमोनाशक-
त्वाद् भास्वान्, तस्मै । “प्रपञ्चाऽऽभोगविस्तारव्यासा” इति हैमः । एतेन
सङ्घस्याऽतिविस्तृतत्वं भगवत सूर्यस्येव तमोनाशनेऽप्रतिमत्व च ध्वन्यते ।
यथा सूर्यः स्वप्रचण्डप्रकाशेन गगनस्वमन्धतमसमपि सद्य एव नाशयति,
तथाऽयं जिनोऽप्यतिशयवत्या वाचा सज्ज्ञानप्रदानादिनाऽज्ञान दूरी-
करोतीति भावः । तदेव ज्ञानाऽतिशयो वागतिशयश्च प्रतिपादि-
तोऽवगन्तव्यः । अत एव, महेन्द्रमहिताङ्गहये=महान्त प्रतापादि-
भिरन्यापेक्षयोत्तमा ये इन्द्रा देवासुरनरेन्द्रास्तैर्महितौ पूजितावङ्गी

वरणौ यस्य स तद्वशस्तस्यै, महेन्द्रपूजितवरणाय । यो हि वाक्
 विष्णुगणानादिमान् स एव महेन्द्रपूजितो भवति । सुब्र
 “गुणा पूजास्वार्त्तं गुणेषु न च लिङ्गं न च क्व” इति वाक् ।
 ० अत्र पूजाऽतिशय प्रतिपादितः । “पुण्ड्रिभरणोऽस्मियामि” स्मरः ।
 विशेष्यमाह—अस्तुपार्श्वधनेन्द्राय=सुपार्श्व=अस्मिन् गर्भस्थे बन्धु
 स्वमे पार्श्वे सर्पशय्यां इत्यनेति जनन्या सुपार्श्वमस्यात्सुम्न्या तदनु-
 सारेण सुपार्श्व इति इत्याऽस्मिन्, स चाऽसौ अयन्ति रागादीनि
 विनास्तेषु देवेभ्यश्च इव भेदः भियाऽस्तिप्रयाविरूपवा युक्त्यश्रौ
 श्रीसुपार्श्वधनेन्द्रस्यै । एतेनाऽप्यायाऽपगमाऽस्तिप्रयो ध्वनितः, यो हि
 रागादिस्त्रिजेता तस्य माऽप्यस्तेषोऽपि । नमः=नमस्कारः अस्तिप्रि-
 शेषः । ‘यज्ञाऽन्यत्क्रियापदे न भ्रमते तत्रास्तिर्भवन्तीपर-प्रयुञ्जत’
 इति हि महाम्यञ्जम् । अशोपमाऽऽहारः ॥ ९ ॥

अथाऽऽमं चन्द्रप्रमग्निं सुब्रमाह—

चन्द्रप्रमप्रमोचन्द्रमपीचिनिचयोज्ज्वला ।

मूर्तिर्मूर्धसितश्चपाननिर्मितेव भियेऽस्तु च ॥ १० ॥

चन्द्रममेति । चन्द्रप्रमप्रमोः = चन्द्रस्य प्रमा चन्द्रित्तिव प्रमा
 यस्य स इत्यन्वर्धनात्मा अस्मिन् गर्भस्थे मातृचन्द्रपानशोहवमावस्ति-
 तुम्ना तदनुसारेण चन्द्रममेतिह्याऽस्मिन्, स चाऽसौ प्रभुः सुब्रदे
 सारिना पालकत्वाद्गुणवैशिष्ट्याच्च स्वामी तस्य, मूर्त्तमितश्चपाननिर्मितेव
 चूर्त्त इति सितं शुद्धं च चन्द्रपानं शुद्धपानमग्निं प्रसिद्धं तेन निर्मिता
 घटितेवेत्युपेक्षा । ध्यानं न मूर्त्तं किन्तु निर्माणनिर्वाहस्य चूर्त्तत्वा

मापन्नतयोत्प्रेक्षितम् । कथमन्यथा शुक्लध्यानवन्निरञ्जनत्वं तन्मूर्तेरिति भावः । ध्याननिर्मितत्वोत्प्रेक्षया च सर्वविधभावाऽतिशयः प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः । सम्प्रत्यन्वर्थनामत्वायाऽऽह—चन्द्रमरीचिनिचयो-
ज्ज्वला=चन्द्रस्य मरीचीना किरणाना निचयः पुञ्ज इवोज्ज्वला शुभ्रा,
चन्द्रकिरणपुञ्जवत्सिता निर्मलाऽऽह्लादिनी चेत्यर्थः । अत्र च शरीरद्युति-
वर्णनेन सर्वविध शारीरोऽतिशय उपलक्षणत्वात्सूचितो बोध्यः ।
सा केत्यपेक्षायामाह—मूर्तिः=तनुर्विन्ध वा, वः=युष्माक स्तोतृणाम्,
श्रिये=सम्पदे, अस्तु=भूयात् । “शोभासम्पत्तिपद्मास्तु लक्ष्मी श्रीरिव
दृश्यत” इत्यमरः । उत्प्रेक्षोपमयो ससृष्टिः । यः स्वयं बाह्याऽऽभ्यन्तर-
श्रीसम्पन्नः, स एवाऽन्यस्याऽपि श्रिये भवितुमर्हति, नहि स्वयमसिद्धः
परान् साधयतीति भावः ॥ १० ॥

अथ नवम सुविधिजिन स्तुवन्नाह—

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।

अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥

करामलकवदिति । केवलश्रिया=केवल केवलज्ञान तस्य
श्रिया जगत्पदार्थसार्थपरिच्छेदप्रगुणया सम्पदा, केवलज्ञानमेव श्रीरतिशय-
स्तया वा, अथ च केवलाऽऽत्मस्वभावात्मकत्वान्निरुपाधिकत्वाच्छुद्धाऽ-
द्वितीयाऽसहाया च या श्रीश्चिद्रूपा सम्पत्तिः केवलज्ञान तया, विश्वम्=
अतीताऽनागतवर्तमानसर्वद्रव्यपदार्थविशिष्ट चराचरात्मक जगत् ।
करामलकवत्=करो इत्यस्तस्य तस्यत्वात्तत्सम्बन्धि यदा मलकमामलक्या
घाऽयाः फल तद्वत्, कलयन्=पश्यन् जानन् वा, यथा हि करस्यमा-

मत्तकं सुकरतया सर्वथा परिच्छिद्यते तथा मगलता केवलज्ञानमिषा
 विद्यमिष्ये । ज्ञानावरणादिधातिकर्मणां साकल्येन क्षय एव केवलो
 त्यतेर्कस्तुसर्वास्तविकं तज्ज्ञानमितिमात्र । एतेन ज्ञानातिशय स्पष्ट
 एव प्रतिपादितः । कस्मतिश्च ज्ञानार्थः, कस्मतिर्हि कर्मभेदः । अत एव,
 अविन्त्यमाहात्म्यनिधिः = अविन्त्यत्वाऽगम्यस्य मनसोऽप्यविषय-
 स्येत्यर्थः । यद्वि चिन्ताऽर्थात् चिन्तागायत्रीतमिति किमु बलव्यमितिमात्र ।
 साहसस्य माहात्म्यस्य महिमो निभिरात्मः, किमिति परं माहात्म्यं गवेःप्लुत
 ज्ञानेन विषयकस्मन् । तच्च कर्मचक्षुषां चिन्तस्मिन्मप्यक्षयम् । साहस-
 सामग्य एवाऽसन्मत्वात्स्येन सवश्चमहिमोऽज्ञेयत्वादितिमात्र । एता-
 वाम्बन् महिमा अतो व्यापार्य पूर्य इति ह्यस्य । अन्वीतसन्क
 इति विशेष्याकृष्णापूरणात्—सुविधिः=सुविधिरित्यभिधेयो मन्म-
 स्तीर्णहर अस्मिन् गर्भस्ये मातुः सर्वविधियु नैपुण्यात्पितृभ्यां तदनु-
 सारेण सुविधिरितिह्युक्तमित्यस्य पुष्यदोहदेन दन्तोद्धाराच्च पुष्यन्तेत्य-
 परन्वमा सुशोभन सकलेष्टप्रश्रुत्याग्निरपात्मत्वाच्च मनोभो विधिर्मुक्तयादि
 साधनमनुष्ठानं यस्य प्रतिपत्नसम्बन्धेन अस्तत्कन्धीरकर्मनामा च, वाः=
 मुन्याकम् बोधये=परमार्थज्ञानाय अस्तु=मन्त्रु । यो हि परमार्थस्य
 सर्वत्रस्तस्यैव बोधिवान्प्रधिकारात् । मनुष्यम्—“गुरुस्य स्वस्य गोदेति
 शिक्षासात्स्येन यावता । अरमतत्वमकारेण तावत्सेभ्यो गुरुत्वनम्”
 इति । देवेन कस्मिन् च मन्त्रद्वितोऽपि पदार्थस्यार्थो भावतः परस्यऽऽमल-
 क्तस्युरस्य इव परिच्छेदोऽमकारेणस्यऽऽज्ञेयकमहिमा, नैतादृशद्विमाऽऽस्य
 कर्म्याऽपीति सम्याऽज्ञौक्तिकमाहात्म्यविशिष्टत्वात्त एव बोधः सम्भवति
 नाऽन्यत्वात्नीरशादिनिमाषः ॥ ११ ॥

अथ दशमं शीतलजिन स्तुवन्नाह—

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।

स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु यो जिनः ॥१२॥

सत्त्वानामित्यादि । सत्त्वानाम्=जीवानाम्, परमानन्दकन्दो-
द्भेदनवाऽम्बुदः=परमः शाश्वताऽखण्डत्वात्सर्वोच्छ्रेयो य आनन्दः सुख-
मयत्वम्, स एव कन्दः पृथिव्यामिवाऽऽत्मनि सावरण स्वभाधत् एव स्थित-
त्वाद्भ्रूमूलविशेष इव, तस्योद्भेदोऽनुभवात्मकाऽङ्कुरोद्गमस्तस्य तत्सहका-
रित्वात्तत्सम्बन्धी नवान्बुदो नूतनजलधर इव । वर्षर्तौ नूतनजलधरेण
हि तद्दृष्टसलिलसम्पर्कात्कन्दाद्भ्रुरोद्गमः प्रसिद्धः, जिनेनाऽपि च प्रवच-
नादिना तत्पालनादिरूपसम्पर्कवशान्मुक्त्याद्यात्मपरममुखोद्गम इति
भावः । ननु न नवान्बुदसत्त्वामात्रेण कन्दोद्भेदः, किन्तु तद्दृष्टसलिल-
सम्पर्कादिनेति कथन्तानिवृत्तये—विशेषणमाह— स्याद्वादाऽमृतनिः-
स्यन्दी=स्यादित्यव्ययमनेकान्तघोतकम्, ततश्च स्याद्वादोऽनेकान्तवादः,
एकस्मिन्नेव धर्मिणि विरुद्धसामान्यविशेषनित्याऽनित्याऽमिलाप्यानभिलाप्य-
सदसत्त्वमेदाऽमेदाद्यनन्तधर्मस्वीकारः । स एव वस्तुथाथाल्यप्रतिपाद-
कत्वादज्ञानात्मकविषमविषमगोपप्रगुणत्वादानन्दकन्दोद्भेदप्रयोजकत्वा-
च्चाऽमृत पीयूषं पयश्च, तन्नि स्यन्दते उपदेशादिना वर्षणेन च सिञ्चती-
त्येवगील, स्याद्वादात्मकाऽमृतसेचक इत्यर्थः । “पीयूषममृतं मुखे”ति
“पयःकीलालममृतमि”ति चाऽमरः । न चेदृश कोऽपि साधारणो जन
इत्याह—जिनः=वीतराग, एतेनाऽलौकिकाऽतिशयसामग्री सूचिता,
वीतराग एव हि सकलाऽलौकिकाऽतिशयसम्पन्न इति तस्य तादृश-

स्याऽऽनन्दकन्वाग्नेयनममृतनिःस्यन्दनं च नाऽतिवह्निमि मास । मरु-
 ताकृत्वाऽनुदमविर्देतुकृत्या विधोपकरकृत्यं ध्वन्यते । स क इति
 विशोप्याऽपेक्षायामाह—शीतलः=शीतं मद्यमपानत्वाच्चर्यं सति सदुप-
 देसादिना मक्त्यापाऽपहरणमुत्थेन सम्पादयतीत्यन्वर्षनामा मस्मिन्
 गभस्थे मष्टुरजस्यसात्पितुच्छापाऽप्यहात्पत्रनुसारेण स्त्रिय्यां शीतल इति
 कृत्वाऽमिस्मय दशमश्रीर्बिह्वरः, वा=शुभान्, पातु=क्षय्यात्, अपा-
 यादित्यर्षवशात्कथ्यते । तावत् एव रक्षको मस्तिमर्हति मज्जादकः,
 तस्य स्वप्नसिद्धत्वादिषु हृदयम् । आनन्दोद्देदव्याऽन्य कन्दोद्देव
 व्याऽन्य इति द्वयोर्देऽन्यमेवाध्यक्षमायकृपातिशयोक्तियेपित्वाऽन्येति
 श्लेषाऽनुप्राप्तितोपमाऽञ्जहारोऽत्र बोध्य ॥ १२ ॥

अथैकत्रयं भेयांसिर्जनं स्तुष्याह—

मरुतारोर्घञ्जन्तुनामगवद्धारदर्शनः ।

निःश्रयसन्नीरमणः भेयांसः भेयसेऽस्तु चः ॥ १३ ॥

मरुतारोऽपि । मरुतारोर्घञ्जन्तुनाम्=मरुत्सुतपते बन्तुरस्मिन्निति
 मरुत्सुर्गतिक ससार स एव रुप्रत्यनेन कृत्वा शीत इति रोग
 व्याख्यात्मिकाऽऽश्रितिक्रऽऽभिमौलिकक्रमिक्रवाफिकमानसिकप्रन्मात्रिब्रुषादि
 ष्वरादिपीडानिमित्तभावात् । एकान्तेन रोगनिमित्तप्रतिपादनाय कार्ये
 कारणोपचाराद्वा मरु एव रोग व्याख्यात्मिकत्रिपीडा, मये हि तेषा-
 माख्यात्मिकप्रदु आनामवक्ष्यमात्वात् । यस्य हि न मरुत्सुतस्य न रोग
 इति रोगः भवतिमित एव । मरु मरु बन्तु, तच्छस्ताकृत्यमन्धी यो
 रोगहतेनाऽऽर्त्ता प्रस्था पीडिता व्याकुल्य क्षयात्मनुभवन्तो ये बन्तव.

प्राणिनस्तेषाम् भवात्मकरोगपराभूतानां प्राणिनामित्यर्थः । अगदङ्कार-
दर्शनः=गदो रोगः, “रोगव्याधिगदाऽऽमया” इत्यमरः । न गदो
यस्य सोऽगदस्त तादृशं करोतीत्यगदङ्कारो भिषक्, योगमहिम्ना रोगाऽप-
हारकत्वात्तद्रूपं दर्शनं प्रतिविम्बाद्यवलोकनं शासनं स्याद्वादाख्यं दर्शनं
वा यस्य स तादृशं, भवरोगाऽपहारकदर्शनं इत्यर्थः । वैधेन कृत्वा
रोगस्यैव जिनप्रतिमाद्विदर्शनमन्तच्छासनाऽऽराधनादिना च पापविशुद्धे-
र्गुणवृद्ध्या भवस्योच्छेदात् । यदुक्तम् ‘इत्याज्ञाराधनपरा अनन्ता
परिनिर्वृताः । निर्वाप्तिं चाऽन्ये क्वचन निर्वास्यन्ति तथाऽपरे” इति,
“आन्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्व मयैकस्तेषु तारक” इति चेति भावः ।
तदुपपादकं विशेषणमाह—निःश्रेयसश्रीरमणः = निश्चितमेकान्तेन
श्रेयःशर्म न तु कथञ्चिदपि दुःखसम्भिन्नमिति निःश्रेयसमुक्तिस्तस्य तद्रूपा
वा या श्रीसम्पच्छाश्रिताऽखण्डानन्दस्तस्य रमते इति रमण, मुक्त्यात्म-
कशाश्रिताऽखण्डाऽऽनन्दमग्नः, स क इत्यपेक्षायामाह—श्रेयांसः=तदाख्य
एकादशस्तीर्थङ्कर, अस्मिन् गर्भस्थे जनपदे सर्वथा श्रेयोभावात् श्रवण-
नक्षत्रे जन्मभावाच्च तदनुसारेण पितृभ्यां श्रेयास इति कृताऽभिख्य,
चः=युष्माकम्, श्रेयसे=कल्याणाय, यत्प्रशस्यतमं तस्मिन् इत्यर्थः ।
अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । प्रशस्यतमश्च भवरोगवियोग इति तादृश-
विशेषणोपादानेन भङ्ग्या सूचितः । यद्वा भवरोगाऽपहारान्मुक्त्याख्य-
श्रेयःप्राप्तिरेवेति—भवरोगोच्छेदकत्वान्मुक्तयेऽस्तु । भवरोगोच्छेदकस्य
स्वयसिद्धस्य मुक्तये प्रभुत्वोचितैवेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः,
स च निःश्रेयसश्रीरमण इति श्रीतिस्त्रीलिङ्गसाम्याद्भ्रमण इति श्लेषाच्च
स्त्रिया रमण इवेति समासोक्तिसृष्टः । तेन च यथा पति स्त्रिय तथाऽय

मुक्तिं यथैष्टमपन्नेषु ममुक्तिं तस्य कस्त्याणपदानसाममीसाकस्त-
मुक्तम् ॥ १३ ॥

अथ द्वादशं वासुपूज्यजिन् स्तुतलाह—

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।

सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनस्तु वः ॥ १४ ॥

विश्वोपकारकीति । विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः= न विश्वोपकारकं विश्वोपकारकं सम्पन्नमिति विश्वोपकारकीभूतं यत् तीर्थकृत्कर्मणीर्हरस्य कर्म तीर्थहरनम्कर्म । तीर्थहरणमकर्मणो हि मन्व-
नादिना विश्वोपकारः परिणाम इति स्वभावादेव उद्वेगोपकारविपाकमित्यथो विश्वोपकारकीभूतमिति बोध्यम् । तादृश्यं तस्य निर्मितिनिर्माणं मस्य स तादृश इति व्यपिकरणबहुभेदि । येन विश्वोपकारकीभूततीर्थ-
कृत्कामकर्मोपायितं स इत्यर्थे, समुच्चिन्मसमुच्छिष्टकर्मति इत्यम् । एतेन तीर्थकृतो निष्कारणविधवात्सत्यं ष्यन्वते । कर्मण एव तथाविपाकण-
करणांतराऽनपक्षजादिति बोध्यम् । अत एव सुरासुरनरैः=सुराभ्याऽ-
सुराभ्य नराभ्योपस्थम्भत्वादन्मे बीवाभ्य, तैः पूज्यो=नमस्य । बहुक्तम्
अगत्प्रतीक्ष्य । एवा यान्ति पक्षिणाऽपि मन्त्रक्षिप्सि' ति, ' त्व विश्वो
पानि पीता हर्षोद्गीर्षे र्गौरपी' ति च । यो हि निष्कारणं विश्वोपकार-
कस्तस्य विश्वपूज्यत्वोक्तिरिति भावः । विश्वोपकारश्चे विश्वपूज्यश्चेति
निष्कारणोऽर्थः । अमुक्तम्— 'सर्वे मेनोत्पन्मूस्तन्त समूहा हेतुपादपाः ।
मूमा समै नमस्तन्ति सुरासुरनरेभ्यः' इति । विदोष्यमाह— वासु
पूज्यः=उप्राप्त्यो द्वादशतीर्थकृतो वासुपूज्यनृपालाव । वः=पुमान्,

पुनानु=शुचीकरोतु, तीर्थङ्करेण हि सदुपदेशाद्यात्मकोपकारादिना सन्मार्ग-
प्रर्शनात्तदाराधनेन कृत्वा कर्ममलाऽपकर्षणाज्जीवाना शुचित्वसम्पत्तिरिति
वास्तुपूर्व्य पुनात्वित्युक्तमित्यवगन्तव्यम् । यो हि विश्वोपकारको विश्व-
पूज्यस्ततो विश्वपवित्रीकरणाऽऽशोचितैवेति ध्येयम् ॥ १४ ॥

अथ त्रयोदश विमलजिन स्तुवन्नाह—

विमलस्वामिनो वाच कतकक्षोदसोदराः ।

जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतव ॥ १५ ॥

विमलेति । विमलस्वामिनः=तदाख्यस्य त्रयोदशतीर्थङ्करस्य,
अस्मिन् गर्भस्थे जनन्या नैर्मल्यभावात्तदनुसारेण पितृभ्या विमलेति
कृताऽभिख्यस्य, विगत मल यस्मात्सादृश्यस्य वीतरागस्येत्यन्वर्थता च
ध्वन्यते । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशय प्रतिपादित । तत्सहचारित्वाच्च
ज्ञानाऽतिशय. पूजातिशयश्च स्वयमृद्ध. । वचनाऽतिशयमाह — कतक-
क्षोदसोदराः=कतक तदाख्यो जलशोधको द्रव्यविशेष, कतकाख्य-
तरुफल वा । तस्य क्षोदश्चूर्णम्, तस्य सोदर —सोदरो हि सदृशो
भवतीत्यतिसादृश्यप्रतीतिप्रयोजनया लक्षणया सदृश्य इत्यर्थ ! सादृश्य
समर्थयस्तादृश विशेषणमाह—त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः=क्षयाणा
जगता तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्वन्यायाज्जगत्प्रस्थितप्राणिना चैतासि मनासि
सलिलानि जलानीव कषायादिरूपमलादिकल्पितानि, तेषा नैर्मल्यस्य
निष्कल्पत्वस्य हेतवो निमित्तभूता । जलानां कतकक्षोदा इव त्रिजग-
ज्जनमनसा काल्प्याऽपाकरणेन कृत्वा शुचित्वसम्पादिका इत्यर्थ
विशेष्यमाह—वाचः=देशनावाप्य, कतकक्षोदक्षेपेण कल्प्य जल-

मनाबिर्लं वायत इति प्रसिद्धम् । एषा भगवद्भूषणाऽऽराधनं कृत्वा
 रागाद्युच्छेदाद्येतसो विशुद्धिवायत इति भावः । अत एव, अयन्ति=
 सर्वोत्कर्षेण वर्धन्ते । अन्वयीमवाधाऽनीहस्त्यादिति भावः । एतेन
 वचनाऽऽतिशयो व्यक्तमेव प्रतिपादितम् । उपमाऽऽह्वारः ॥ १५ ॥

अथ चतुर्वक्ष्यन्तस्मिन् सुकलाह—

स्वयम्भूरमभस्पर्धिकम्पारसवारिणा ।

अनन्तजिदनन्ता व प्रयच्छन्तु सुखभियम् ॥ १६ ॥

स्वयम्भूरमणेति । अनन्तजित् = अशक्यचतुर्वक्ष्यन्तिहरः,
 अस्मिन् गर्भस्थं पिताऽनन्तं क्षत्रुबलं जितमिति तदनुसारेण शत्रुभ्य-
 ममन्तजिदिति कृत्वाऽऽस्मिन् अनन्तज्ञानादिसमन्वितत्वात् अमन्तं ज्ञानादिकं
 क्वचि स्ववशीकरोतीत्यनन्तजिदित्यन्वयनामा, स्वयम्भूरमणस्पर्धिक
 कम्पारसवारिणा = स्वयम्भूरमणं अक्षय्या सर्वसागरान्तिमत्तवास्याऽऽह्वार-
 क्तोअनविष्टारसागरबलं स्पर्धते स्वपरिमाणेन परामक्षिमिच्छतीत्येवमिति
 स्वयम्भूरमणास्यसागरबलाऽपेक्षयाऽप्यक्षिपरिमाणं अक्षय्या परतु स
 पक्षणेच्छा, तदास्य रसवारि म्भुसस्त्रिम् कल्याण्यो रस एव धारीति
 वा तेन कृत्वा, नि सीमकल्पयेत्यर्थः । एतेन भावान् कल्याणकल्याण
 इति अन्वये । यद्वा कल्याणरसवारिणा कृत्वा स्वयम्भूरमणस्पर्धी अनन्त-
 जिदित्यन्वयः । स्वयम्भूरमणकल्याणसाऽपेक्षयाऽप्यक्षिपरिमाणकल्याण
 सवारिपूर्ण इति समुदासपरमार्थः । अत एव, वा = सुम्भ्वम्,
 अनन्ताम् = साधवीमन्वयां सर्वकर्मपरिहृयोपन्त्याम्, सुखभियम् =
 सुखस्य श्री समृद्धिस्ताम् अविम्वरसुखसम्पदमिति समुदासार्थः ।

प्रयच्छतु=वितरत्विति प्रार्थये । यो ह्यनन्तकरणापूर्णाऽनन्तजिच्च, तत
एवाऽनन्तमुत्खलामसम्भवः, यदुक्तम्—“पूर्णात्पूर्णमुदच्यत” इति भाव ।
उपमानादुपमेयस्याऽऽधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कारः ॥ १६ ॥

अथ पञ्चदश धर्मनाथजिन स्तुवन्नाह —

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।

चतुर्धा धर्मदेष्टार धर्मनाथमुपासहे ॥ १७ ॥

कल्पद्रुमेति । शरीरिणाम्=प्राणिनाम्, “प्राणी तु चेतनो
गन्मी जन्तुजन्युशरीरिण” इत्यमर । इष्टप्राप्तौ=इष्टस्याऽमिलषिता-
र्थस्य प्राप्तौ लाभे, कल्पद्रुमसधर्माणम्=कल्पद्रुमस्य, समानो धर्मो
यस्य स सधर्मा सदृशस्त तादृशम्, कल्पवृक्षवदिष्टप्रदमिति मिलितार्थे ।
तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—चतुर्धाधर्मदेष्टारम्=चतुर्धा दानशीलतपो-
भावभेदाच्चतुर्विधो यो धर्म उपलक्षणत्वात्तत्सञ्चयहेतुरनुष्ठानादि, कारुणे
कार्योपचारादानक्रियादिरपि धर्म । त दिशस्युपदिशतीति स
तादृशस्तम् । चतुर्धाधर्माऽऽराधनेन प्राणिना सकलेष्टसिद्धि, इष्टो हि
धर्म एव तेषाम् । तल्लामे चैव एव कल्पतरु, अन्यत्र प्रयस्याऽपि स
दुरापश्चेति भाव । विरोप्यमाह—धर्मनाथम्=तदाख्य पञ्चदश
तीर्थङ्करम्, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्धर्मक्रियादोहदभावात्तदनुसारेण
पितृभ्या धर्मनाथेति कृताऽमित्यम्, चतुर्धा धर्मदेशकत्वाद्धर्मस्य नाथ
इत्येवमन्वर्थाऽभिधम्, उपासहे=भजामहे । धर्माऽभीप्सूना धर्मदेष्टा
धर्मनाथ एव शरणमिति भाव ॥ १७ ॥

अथ षोडशं शान्तिविधिनं सूत्रमाह—

सुधासोदरषाग्न्योत्स्नानिर्मलीकृतदिग्भुसः ।

मृगलक्ष्मा समःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

सुधेस्पृष्टि । सुधासोदरषाग्न्योत्स्नानिर्मलीकृतदिग्भुसः=

सुधाऽमृतं सत्यास्तृप्तिप्रदत्वान्मुक्तिमार्गादिप्रतिपादनेन कृत्वाऽमरत्व-
प्रवृत्त्याद्दुर्लभात्सोदरा उदशी या यद् वेक्षनात्प्राग्मेव सुधासम्बन्धेन
निर्मलीकृतगन्धमन्त्रं च तादृश्याऽम्बोत्सा पन्त्रिका, “पन्त्रिका

कौमुदी ज्योत्सो” इत्यमर । तथा कृत्वा निर्मलीकृतानि कर्मक्षयोपम

प्रदर्शनेन कृत्वा कर्मसम्प्रदितानि समोन्मत्तात्प्रकाशसद्वावाच प्रसन्नानि

कृतानि त्रिंशं ककुम्भां गुत्तानि मुन्वत्पुरुः स्थितत्वात्पुरोमगा

तात्पर्यात्पञ्चदशोपचारादिगन्तवस्तत्त्वाः प्राग्निश्च येन स तादृशः ।

“द्विषस्तु ककुम्भ कण्ठ” इत्यमर । ज्यो-शामि हि त्रिंशो निर्मली

कर्णमुच्यते । यथा ज्योशामिर्दिगन्तस्पर्शन्ते प्रकृष्टमते तथा वाचा

सर्वे ज्ञानात्मना प्रकृष्टमन्ते । प्रकृष्टोनेन प्राग्नेन समसोऽज्ञानस्य

समुन्मूलनादिनि तात्पर्यम् । एतेन सम-शान्तिनाथप्रसादन्यमुक्तम् ।

अथ एव कर्मनौत्पारसाचर्मात् मृगलक्ष्मा=मृगो हरिश्च स एव

सक्यं सन्तानं यस्य स तादृशो हरिणव्यामनतश्चन्द्रकपय । शान्ति

जिनस्य मृगे सम्पन्नमिति प्रसिद्धमेव । हिमागुम्बन्तनाश्चन्द्र ..

म्लौर्मृगाह कव्यनिधिरि ति “कण्ठहाडौ साञ्छनं च चिद् व्यस

च लक्षणमि ति चामर । विरोधमाह—शान्तिनाथजिनः=शान्ति-

स्तदास्य षोडशस्त्रीर्षिहर अग्निन् गभन्वे लोके सर्वोपद्रवघाति

कतिति पितृभ्यां तदनुसारेण शान्तिरिति कृताऽभिस्य शम्यादित्या-
शास्यमानः, स एव सन्मार्गोपदेशादिना पालकत्वान्नाथ इव नाथ. स्वामी,
स चाऽसौ जयति रागादीनिति जिनः, स तादृश । वः=युष्माकम्,
तमःशान्त्यै=तमसोऽन्धकारस्य वस्तुयाथात्म्याऽवबोधप्रतिपन्थित्वसा-
धर्म्यादुपचारादज्ञानस्य च शान्त्या उपशमाय, तमोनागायेत्यर्थः । प्रबोध-
प्रकाशायेति यावत् । अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । यो हि शान्तिनाथ-
स्तत एव तम-शान्तिप्रार्थनमनुगुणम् । ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखश्च
मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै भवत्येवेति शान्तनाथस्तुतिरवश्यफलप्रदेति
ध्वन्यते । परम्परितरूपकाऽलङ्कारस्तस्य चोपमाऽङ्गम् ॥ १८ ॥

अथ सप्तदश कुन्धुजिनं स्तुवन्नाह—

श्रीकुन्धुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयद्विभि ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व श्रिये ॥ १९ ॥

श्रीकुन्धुनाथ इति । सुरासुरनृनाथानाम्=सुराश्चाऽसुराश्च
नरश्च तथा तेषामेव नाथाश्च, यद्यपि सुरादिनाथा अपि सुरादय एवेति
पृथङ्नाथोक्तिर्गतार्था, तथापि ब्राह्मणवशिष्टन्यायेन पृथगुक्तिर्वोध्या ।
सुरनाथादिनाथश्च जगन्नाथ एवेति तिर्यगाद्यनुक्तेर्न न्यूनता । सुरादीन्
विहाय तन्नाथानामेव तात्पर्यविषयत्वे च न्यूनता समापद्यत एव, नहि
सुरादिनाथनाथ एव कोऽपि न तु सुरादिनाथ इति युक्तिमत् । यद्वा
य सुरादिनाथनाथ स सुरादिनाथ मुतरामिति अथेष्ट व्याख्येय न
काऽपि निर्वन्ध । तेषा देवदानवमानवेन्द्राणाम् । एकनाथः=एको
द्वितीयस्य तादृशस्याऽभावोदेकमात्र स्वयमनाथत्वाच्च प्रधानं च नाथ-

धीस्मृदत्तादिना स्वामीव स तारुष सर्वकलाव इति मिलितार्थे ।
 तत्र हेतुगर्भे विशेष्यमाह—अतिशयार्द्धिभिः=अतिशेते स्नेहनेमि-
 रित्यतिशया मलौकिकान्तरसाधारण्युणा प्रसिद्धा सहस्रवर्तिश्वम्,
 सस्य अद्भ्योऽतिबहुत्वम् । यदुक्तम्—‘स्वामिन्! सहस्रवर्तिश्वं
 शको वक्तुं न ते गुणानि’ इति । अतिश्वय एव अद्भ्य सम्पत् इति
 वा तापि कृत्वा सनाथः=समन्वितः स्नेकेऽपि हि सुरादिनाथो-
 ऽन्यापेक्षया कृतिपमाऽतिशयसम्पन्नो भवति अयं स्वतिशयार्द्धिभिः सम्पन्न
 इति सुरसुररत्नाभलाभेकनाथो भक्त्येवेति मत्वः । अत एव
 भगवान्=भगो ऐश्वर्यादित्त्वद्भान्, मत्सस्तमूमेभ्यादिसम्पन्न इत्यर्थः ।
 “ऐश्वर्यस्य समप्रस्य धर्मस्य यत्सः मियः । शानवैराम्ययोश्चैव
 पण्णां भग इतीरणे सुचरिति बोध्यम् । विशेष्यमाह—
 भीष्मपुनाथः=भीसमन्वितः कुन्पुनाथेत्यास्य सप्तसप्ततीर्षिहर,
 अस्मिन् गर्भस्व स्वप्न मात्रा कुन्पुनामरत्नराशिदर्शनात्पुन्यारेण पितृभ्यां
 कुन्पुनाथेति कृताऽस्मिन्स्य वः=पुनाथम्, भिये=ज्ञानादिसम्पदे
 अस्तु=भवति इति प्रार्थने । ३. सर्वभीसपत्त स एव भिये भवितु
 मर्हतीति मत्व ॥ १९ ॥

अथाऽष्टादशमरनाभजिते सुवभाह—

अरनाथ स भगवांश्चतुर्थाऽरनमोरविः ।

चतुर्धंपुल्यापधीषितासं वितनोतु व ॥ २० ॥

अरनाथ इति । सः=अगति चतुर्धंपुल्यासंभद्रत्वेन म्यत्तः,
 चतुर्धाऽरनमोरविः=चतुर्थो द्वादशारे कालयमे तुरीयो योऽरभक्त-

स्याऽर इव भाग इत्यर इति ख्यातश्चतुर्थोऽशौ दु पमसुपमाऽरः, स
 एवाररविणाऽधिष्ठीयमानत्वाज्जानादिप्रभया प्रकाशमानत्वाच्च नभो
 गगनम्, “नभोऽन्तरीक्ष गगनमि”त्यमरः । तस्य तत्प्रकाशकत्वात्त-
 दधिष्ठानत्वाच्च तत्सम्बन्धी रवि प्रकाशकत्वादिसाधर्म्याद्रविरूपः ।
 सूर्यो यथा गगने सर्वताराब्रह्माद्युत्कृष्ट सर्वलोकप्रकाशकश्च, तथाऽर-
 नाथोऽपि चतुर्थारे सर्वोत्कृष्ट सर्वप्राणिप्रबोधोद्बोधकश्चेति भावः । कुत
 इत्याकाङ्कानिवृत्तये आह—भगवान्=ऐश्वर्यादिरूपभगसम्पन्न, यो हि
 भगवान् स लोकोत्तमो भवत्येवेति हृदयम् । अत एव, सः=सर्व-
 जगत्ख्यात, विशेष्यमाह—अरनाथः=तदाख्योऽष्टादशस्तीर्थङ्करः,
 अस्मिन् गर्भस्थे मात्रा स्वप्ने चकारदर्शनात्पितृभ्या तदनुसारेणाऽर इति
 कृताऽमित्यः, वः=युष्माकम्, चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम् =चतुर्थो य-
 पुरुषस्याऽर्थः प्रयोजनं धर्माऽर्थकाममोक्षेष्वन्त्यो मोक्षनामा पुरुषार्थस्तस्य
 या श्री शाश्वताऽखण्डानन्दादिलक्ष्मीः, अथवा तद्रूपा या श्रीस्तस्या
 विलास प्राकट्येन सान्निध्यम्, तम्, वितनोतु=उपदेशादिना
 सज्ज्ञानप्रदानेन कृत्वा सम्पादयतु । चतुर्थस्य चतुर्थप्रदत्वमनुगुणमेव ।
 किं च स एव चतुर्थपुरुषार्थप्रद, यदुक्तम्—“जगन्ति मिन्दन्तु सृजन्तु
 वा पुनर्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम् । त्वदेकनिष्ठे भगवन् ।
 भवक्षयक्षेमोपदेशे तु पर तपस्विनः” इति भावः । परम्परितरूपका-
 ऽलङ्कारः ॥ २० ॥

अथैकोनविंश मल्लिजिर्न स्तुवन्नाह—

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।

कर्मद्रुन्मूलने इस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

सुरासुरेणि—सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्=सुराभ्यामुराभ
 नराभ्य तेषामेवाऽधीशा इन्द्राथ सुरासुरनराधीशा एव मयूरा बर्हिषः,
 “मयूरा बर्हिषो बर्ही शुक्रापाह विस्वावल्” इत्यमरः । तेषां मयो-
 ज्युषे, इतरविष्णवणर्षमद्रत्वादिनिमित्तम् । स तारक्षो ज्ञानातिशयाधि-
 म्चुरतरसत्किन्तसम्भूतत्वात्प्रत्ययस्य वारिदो मेघन्तश्रुप इत्यर्थः । मयूरो हि
 मघमं सस्मिन्सम्भूतमुजतं वारिदं दृष्ट्वा इत्यति केचनरत्वं क्वाति नृत्पति
 च । सुरादयश्चाऽपि मत्तिमिनं इहा इत्यन्ति अयङ्ङुमारत्वं कुर्वन्ति
 नृत्वादि च कुर्वन्ति । एष्टस्य हि वासिरियमिति सुपूर्कं मयूरत्ववारिद-
 मिति । सुरादिमयूरनववारिवत्त्वे हेतुगर्भे विशेष्यमाह—कर्मद्रुन्मूलने
 =कर्माण्येष इदमद्रुन्मूलनाश्चानावरणादिनानादात्मस्यसत्त्वाद्बहुविधेष्ट-
 ऽनिष्टकस्त्वाच्च द्वयो द्रुमास्तेषां ज्ञानचारित्रादिना स्वधीयानां परकीयणां
 च सम्मार्गोपदेशादिनान्मूलने मूलद्रुत्वाटने रिपये, विनाशने इत्यर्थः ।
 इतिमच्छम्=पेरान्नाम्नं गजेन्द्रम् तद्रूपमित्यर्थः । गजेन्द्रस्य हि
 द्रुमोत्पाटन प्रसिद्धमेव । पतेन कर्मनाशने तस्य सुकरमिति ध्वन्यते ।
 बलातिशयादि गजेन्द्रोऽनतिप्रयासेनैव द्रुममुन्मूलयतीति बोध्यम् ।
 यदुक्तम् ‘त्वतो माऽन्य कर्मकश्चमुन्मूलयति मूलतः’ इति । ‘पेरान्तो
 हस्तिमत्त श्वतगण्डेऽग्रद्रुमिन् इति हैम । कर्मकश्चिदानां हि
 तापकुञ्जानां मयूरानां तापनाशक्रे वारिद इव कर्मद्रुमोन्मूलने मत्तिरिति
 इत्यम् । अथ वारिदरूपस्य द्रुमपोषकत्वाऽनुपपन्नात्स्य द्रुमोन्मूलयइति-
 मत्तत्वा रूपमसमजसमित्ति मतिमतीति समाश्लेषनीयम् । विशेष्यमाह—
 मच्छिम्=श्वान्मूलनिक्षतीर्षात्तम्, अस्मिन् गर्भस्ते मासु पुत्र्य
 मास्यस्यस्यरोहवाच्यनुसारेण पितृम्यां मत्तिरिति इत्यामित्यम्,

अभिष्टुम = गुणकीर्तनेन कृत्वा तदाभिमुख्यं साधयामः । आनन्द-
रुमार्थं कर्मोन्मूलनार्थं चेति तादृशविशेषणमहिम्ना प्रतीयते ॥ २१ ॥

अथ विंशतितम मुनिसुव्रतजिन स्तुवन्नाह—

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् ।

मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुम ॥ २२ ॥

जगदिति । जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् = जगत-
त्वात्स्यात्ताच्छब्दयाज्जगज्जन्तूना यो महाननादिकालप्रवृत्तत्वादुत्कट-
त्वाच्च दीर्घो गाढश्च यो मोहोऽनात्मनि ममत्वबुद्धिं, यदुक्तम् “अनित्य-
घनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽवृता बुद्धिर्मोह इत्यमि-
यीयते” इति । स एव सत सज्ज्ञानस्याऽन्तरायत्वात्तदागमप्रतिपन्थि-
त्वाच्च निद्रा शयनमिव, “स्वानिद्रा शयनं स्वाप” इत्यमरः । तस्या निवृत्तन-
साधनलक्षणेन सम्बन्धेन तत्सम्बन्धी यत्प्रत्यूपोऽहर्मुखम्, “उषसि
प्रवृद्धयेते” त्युक्तेरिति भावः । “प्रत्यूपोऽहर्मुखं कल्पामि” त्यमरः ।
तदात्मक समय काल, दिवसस्य पञ्चपञ्चाशत्तमघटिका । यदुक्तम्
“पञ्च पञ्च ऊष कालः सप्त पञ्चाऽरण्योदयः । अष्टपञ्च भवेत्प्रातःशेषः
सूर्योदयः स्मृतः” इति । स निवर्तकत्वसाधर्म्यादुपमा यस्य तदादृशम् ।
यथा प्रत्यूपकालेन निद्राविल्यो ज्ञानागमश्च, तथा मुनिसुव्रतवचनेन
मोहव्यपोह सज्ज्ञानलाभश्चेत्यर्थः । मुनिसुव्रतनाथस्य = मुनिसुव्रतस्त-
दास्त्वध्याऽसौ मोहनाशाद्यर्थमाशास्यमानत्वात्नाथश्च तस्य तदास्त्वस्य
विंशतितमतीर्थेकरस्य, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्मुनेरिव सुव्रतभावात्तदनु-
सारेण पितृभ्यां मुनिसुव्रतेति कृताऽभिरूप्यस्य, तदुच्चरितत्वेन तत्सम्बन्धी-

स्यर्ष । देशनाबधनम्=देशना धर्मापदेशस्तुषुषं वचनम्, मन्त्र-
मित्त्वर्ष । स्तुमः=कीर्तयामः, मोहनिको गतन्द्रित्येष विद्विनमोहस
वस्तुयापास्याऽवधामद्य यथा स्यादिति भाव । उष्माऽऽहार ॥२२॥

अथैकविंशं नमिनाबधिनं स्तुवन्माह—

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिपुषा इव नमेः पान्तु पादनस्वांशुषः ॥ २३ ॥

लुठन्त इति । नमताम्=साऽनिस्यमचबाऽनिच्छतया मूर्धा
पादस्पर्शो यथा स्याज्ज्यामणमतां जनानाम्, मूर्ध्नि=मस्तके “मूर्धा य
मन्त्रकोऽस्त्रियामि” स्मर । लुठन्त =सम्पृच्छन्त, प्रसरन्त सन्त
इत्यर्थ । वारिपुषाः=वारीणां मस्तनां श्रवा पूरास्त्रिषु कृत,
तद्वत्प्रसरण्यतिर्मन्त्राऽऽपादकस्याचेति भाव । इवेन समासो विमल-
सोपभ्येत्यनुशासनादुत्पत्ति न सिम्बिच्छोप इति बोध्यम् । “मन्तुःशौ
पूर श्रवोऽपि च” तिहोम । निर्मलीकारकारणम्=भनिर्मलस्य क्षारीरति
मस्तमास्त्रिय कर्मादिभक्तिस्य य निर्मलस्योक्ताऽनैर्मत्याऽपाकरणेन
कृत्वा पवित्रस्य करणं निर्मलीकरणस्य करणं करणमूला अन्वयिता
वच्छेदकीमूतकरणवच्छेदकस्यैव वात् यथा प्रमाणमित्यादिबदेकवचन-
मुपपादगीयम् । नमेः=सवसाधर्मस्यैकविंशतीर्थहरस्य अस्मिन् गर्भस्थे
प्रसादमन्त्रिण मन्त्ररक्षणेकनमात्रेण शत्रवो मता इति तदनुसारेण
पितृभ्यां नमिरिति कृतमिच्छस्य पादनस्वांशुषः=पादयो र्बे मस्तमते
वानसुषो म्यूषा क्रियाऽसमयूषाऽऽगमतिपृगिरस्मय” ।
इस्मर । पान्तु=रक्षन्तु । निर्मलीकरणेन कृत्वेति भाव । प्रसरन्-

क्रियासान्यास्त्वकष्टरवोक्तनिर्मलीकारक्रियासान्याच्चाऽत्रोपमाऽलङ्कारः ।
 अत्रोपेक्षा वर्णयन्तस्त्वलङ्कारमर्मणा दत्ताऽर्धचन्द्रा एव । उपमाप्रयोजको-
 भयसामान्यक्रियायाः स्वयमेवोक्तेः । प्रकृतस्य परात्मना सम्भावन
 लुपेक्षा, न तु सामान्यधर्मोक्तिपुरस्सर साम्यप्रतिपादनम् । उपेक्षा-
 यामपि साम्य मूलमित्यन्यदेतत् । यथा हि मूर्ध्नि लुठद्भिर्वारिपूरैः स्नानादौ
 शरीरस्य मलाऽपकर्षणेन कृत्वा निर्मलता, तथा मूर्ध्नि लुठद्भिः पादनस्वाशु-
 मिस्तेषां पुण्यत्वात्कर्ममलाऽपकर्षणत आत्मनः शुचितेति तत्त्वम् ॥२३॥

अथ द्वाविंशतरिष्टनेमिजिन स्तुवन्नाह —

यदुवशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।

अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्दोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

यदुवशेति । यदुवशसमुद्रेन्दुः=यदूना यदुनामनृपाऽपत्यानां
 यो वश सन्तानः, “वंशोऽन्ववाय सन्तान” इत्यमरः । स एवाऽ-
 तिमहत्त्वात्ख्यातिसलिलराशिपूर्णत्वात्सङ्घं यातपुरुषरत्नादिसम्भृतोदरत्वाच्च
 समुद्र इव, तस्य तद्वर्धकत्वात्तद्वत्त्वाच्च तत्सम्बन्धीन्दुश्चन्द्र इव, चन्द्र-
 समुद्रोद्भव समुद्रवर्धकश्च प्रसिद्ध, तद्वदयमपि । यदुवंशवर्धको
 यदुवशोद्भवश्चेत्युपमा । तथा, कर्मकक्षहुताशन = कर्माणि शुभा-
 ऽशुभानि कक्षा वनानि, “कान्तार विपिन कक्ष स्यात्पण्ड कानन
 वनमि”ति हैम । तस्य तद्वाशकत्वात्सम्बन्धी हुताशनो वहिरिव,
 स तादृश । हुताशनो वनमिवाऽयं कर्माणि स्वीयानि चारित्रादिना
 परकीयाणि च तथाविधोपदेशादिना नाशयतीति भावः । ननु
 स क इत्यपेक्षायामाह—भगवान् = ऐश्वर्यादिरूपप्रशस्तभूमभगतसम्पन्न,

एतेन विशेषेण स्वेष्टसिद्धिसम्प्राप्तौका, भगवत् एवेष्टसिद्धिसम्प्राप्तिं
 बोध्यम् । अरिष्टनेमिः=उवाचो अस्मिन्स्त्रीर्षद्वरः, अस्मिन् गर्भे
 मात्राऽरिष्टरत्नपकपाराऽस्त्येकनाच्यनुत्तरेण पितृम्भामरिष्टनेमिरीति
 हस्ताऽमित्य । अः=पुत्राकम्, अरिष्टनाशुनः=अरिष्टमाप्यस्तिष्यऽऽपि
 वैविकाऽऽपिमौनिकमुपसर्गं स्वपदेसादिनाऽऽदिष्टयादिबद्धाद्य नाशयतीति
 स तादृश, सर्वोपसर्गोत्थारक इत्यर्थः । “ उपसिद्धं स्वरिहं स्वपुत्र्यं
 उपस्य ” इति इय । भूयात्=भवत्किस्यासासे । एतेन अरिष्टस्य
 पक्षादिनेमिबद्धित्वात्परिष्टनेमिरित्यन्वर्थाऽमिषेयता धनित्या । माग्नेभ्यः
 रूपपरतया व्यक्त्याने तु माग्नेरूपक बोध्यम् ॥ २४ ॥

अथ श्वोर्विशं पार्श्वनाभसिने स्तुवताह—

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।

प्रसुस्तुत्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाभःश्रियोस्तु धः ॥ २५ ॥

कमठ इति । स्वोचितम्=सस्य स्वस्य कमठस्य धरणेन्द्रस्य च
 अनुचितमभ्यस्यं न्याय्यं श्रेय्यं च तदाह्यन् स्वस्वप्रवृत्तोरुपमित्यर्थः ।
 ‘ अन्वयेऽप्युचितं न्याय्यमि’त्यमर । कर्म=व्यापारः तत्र कमठस्यऽ-
 सुरविशेषस्य परोपसर्गादिक्रियाऽभ्यासात्तत्रप्रधानप्रवृत्तितया परोपसर्गा-
 क्रियादेरेव उदनुगुणत्वात् श्वोर्विशं पार्श्वनाभप्रमोः प्रतिमत्प्रवृत्त-
 सुदुःखोपसर्गाक्य कुचेष्टितमित्यर्थः । धरणेन्द्रपक्षे च-तस्य देवप्रवृत्ति-
 तया सत्त्वप्रधानतया परोपकारकरणापभ्यासात्परदुःखसिद्धिोपनादि
 व्यापारस्यैव च तदनुगुणतया च पार्श्वप्रमो कमठसिद्धिोपसर्गनिवारणप्रकं
 सत्कर्म च कुर्वति=अनुचितप्रवृत्तिः, कमठे=उवाचोऽसुरविशोपे धरणेन्द्रे

=जिगभक्ते तदाख्ये नागराजविशेषे, चः समुच्चये, तेन स्वोचितं कर्म कुर्वतीत्यस्योमवत्राऽन्वयः । तुल्यमनोवृत्तिः=तुल्या मध्यस्थतयाऽप-
कारिणि द्वेषरहितोपकारिणि च रागरहिता च मनोवृत्तिर्भावोऽभिप्रायो
यस्य स तादृशः, समतामतिरित्यर्थः । वीतराग इति यावत् । इदम-
साधारणमलौकिकं च वैशिष्ट्यं यदपकारिणि न द्वेष उपकारिणि च न
राग इति भावः । विशेष्यमाह — पार्श्वनाथः=तदाख्यत्वयोर्विश-
स्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे तमस्विन्यामपि रात्रौ मात्रा पार्श्वतो गच्छतः
सर्पस्याऽवलोकनात्पितृभ्या तदनुसारेण पार्श्व इति कृताऽभिलष्य, ग्रभुः=
स्वामी, एतेन तस्य समता नाऽशक्येति मनोरथसिद्धिसम्भावना च
सूच्यते । चः=द्युष्माकम्, श्रिये=लक्ष्म्यै, अस्तु=भवतु । यो हि
वीतरागस्तत एव चिन्तामणिवत्पार्श्वनासिद्धिरिति तात्पर्यम् । पार्श्वनाथ-
ग्रभौ प्रतिमामास्थिते तद्ध्यानभङ्गनाय पूर्वजन्मवैरिणा कमठदानवेनोपसर्गः
कृतः । प्रभो. परमोपासकेन नागराजेन धरणेन्द्रेण च स निवारित
इति कथामनुसन्धायैषा स्तुतिरिति बोध्यम् ॥ २५ ॥

अथ चरमजिन श्रीमहावीरस्वामिनं स्तुवन्नाह—

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।

ईषद्वाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति फलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित सकलाऽर्ह-
न्तोत्र समाप्तम् ॥

कृतेति । कृताऽपराधे=कृतो विहितोऽपराधो मन्तुर्विधोप-
सर्गरूपो येन स तादृशस्त्वस्मिन्, अनिष्टाऽऽचरणेनाऽपराधिनि, अपि-

भिन्नकर्मो बने इत्यनन्तरं दृश्यम् । बने=सङ्ख्यस्यैवाद्यै श्लोके तिर, अपिनाज्जपराधिनि बने तु कश्चैव केचि सूच्यते । कृपात्मना तारयोः=कृपायाऽकृताऽपराधेऽप्यपकारपरायणत्वात् बनेत्य सङ्ख्ये रस्य "इन्त ! कश्चमस्य सद्भिर्मनिते"ति परतु-समहापेच्छया मन्ने नि-सन्दे शारे क्लीनिक मयोस्तादृश्ये, कृपायाऽज्जोक्तानस्य ने निश्चले मक्तीति आतिरिति माव । "भागोऽपरायो मन्नुये"ति 'तारक्यऽप्य क्लीनिके"ति चाऽमर । ईपद्वाप्यार्द्रयोः=कृपाय चेतसो द्रुत्वादीपदस्य चाप्येष नेत्रबलेनाऽऽर्द्धे स्थित्ये, तयोस्तादृश्ये; कल्प्यापूर्णेतिर्कः । 'बाप्यं नेत्रबलेन्ययो"रित्यमर । तिरोप्यगृह-भीर्भारविननत्तयोः=भीसहितो वीरस्तादृशाऽताभारणम्योपसर्गेऽप्य-क्षेभान्माहावीर इति श्लोके ह्यातथाऽतौ विनम्य, एतत् श्चुर्विसरित्तव तीर्महूरस्य नेत्रे वक्षिणी तयोः, महूर्=मङ्गलम्, तारस्यौ भीर्भीर-विननेत्रे सङ्ख्यमङ्गलाऽऽत्मिके इत्यर्थः । अनेदेऽपि राहो शिर इति-बल्ये बोध्या । 'अ नेमसि सितं मद्रं कन्त्यार्थं मङ्गलं शुभमि"त्यमर । एतेन वीरविनस्य निर्द्वैतुफत्तमिकत्वं सूचितम्, कश्चमन्यत्तऽपकवि-प्यपि कल्पेति बोध्यम् । यथा प्राप्तिनि स्या कल्पार्थं तन्मङ्गलमेव, अत एव मङ्गलमन्तरकं चेति इत्यमर । अत-विनिकपरिपदि श्लोके विहितं "सम्पति षष्ठ्यस्यो वीरोऽजनिं पावबन् सुदुष्करतप-परायण केनाऽपि माऽप्यभ्याज कर्तुं क्षम्यत ' इति परमजिन्मुपबधनमाकर्ष्य जाताऽस्य सकोकमभइमान परीक्षितुं सद्य एव महीतज्जपरीर्म प्रतिमासस्य अरमजिनस्य विविधं वास्यमुपसर्गे कर्तुं प्रथममे सङ्गनास्य सुरः । तेन चाऽऽशुभं तत्रैव निश्चयभ्यामसीनं तर्कबोधस्य निष्कट-

श्रमःस्थगित इव जातः स सुरः स्वस्थानं गन्तुमुपक्रान्तो “हन्त ।
कथमस्य सुगतिर्भवति”ति तच्चिन्तया कृपया निश्चलाम्यामश्रुसिग्धाभ्या
भगवता ददृशे । तस्स्थितिमनुसन्वाय स्तुतिरेषा जिनस्य निष्कारण-
कारुणिकत्वसूचनाय प्रवृत्ता । एतेन स्वस्मिन्नपि प्रमोस्तादृशदृष्टिप्रार्थन
ध्वन्यते ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते सकलाऽर्हत्तोत्रे
श्रीतपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्कदम्यगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकाऽऽचा-
र्यवर्यश्रीविजयनेगिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयजशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजय-
विज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतचिद्विगारदाचार्यवर्यश्रीविजय-
कस्तूरसूरीश्वरशिष्यपन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकला-
ख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

अथ परिशिष्टपर्व प्रारिप्सुनाऽनेनैव कलिकालमर्षज्ञेन श्रीहेम-
चन्द्राचार्येण प्ररिप्ततपरिसमाप्तिकामेन विप्रविधाताय कृतं चतुःश्लोका-
त्मकं श्रीवीरजिनस्तुतिरूपं भङ्गलमपीह प्रसङ्गाद्व्याख्यायते । तत्राऽयमाद्य-
श्लोक —

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।

महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥

श्रीमत इति । अर्हते=अर्हति पूजा सुरादिकृतामित्यर्हन्, तस्मै
तीर्थङ्कराय सुरासुरादिपूजिताय, यतश्चाऽर्हन्नत एव, अद्भुतश्रिया=अद्भुत-
याऽसाधारणयाऽलौकिकया च । असाधारणमलौकिकमेव चाऽद्भुत भव-

तीति बोध्यम् । तादृश्या त्वा, मिया इत्याद्या सहस्रापतिशुभ्रवत्, "किस्मयोऽवुत्तुत्माभ्यमि"त्यमरः । सनाथाय=समन्वित्तस्य, अत एव च महानन्दसगेराजमराठाय=महान् क्षाभनाऽस्त्वप्युत्तमाऽनस्य, कल्प इत्यर्थः । तादृशो य आनन्दः सुखम्, सफलकर्म्मसमयान्युत्तमित्यर्थः, स एव सरो महत्कूर्पस्थानिवापन्वात्कसार "कसारः सरसी सर" इत्यमरः । तत्र उद्बगान्दृश्यात्साम्बन्धी भो राजमण्ये मराठानो राया, राजईस इत्यर्थः । राजदन्ताखिलमास । तद्वपुष, मद्य सरसि ईसेषु राजईस सर्वोत्तमभित्तमन्वित सर्वमेष्टुभ मवति, तथा भीवीरविन्दोऽपि महानन्दमयोपु सर्वोत्तम सुखाऽवुत्तुत्तमभित्तमन्वित्, मध्याऽईन् स ईदृश एव भवतीति भावः । तस्मै तादृश्याय, भीमते=सर्वविषमक्षयान्मसंपत्समन्विताय मध्यात्रावुत्तुत्तमिवा सनाथावेत्युक्तयेव भीमते इत्युक्तयेव वेद्यार्थबोधसमयेऽन्तरस्य नैरर्ककम्, तस्मिन् भीमव्ययोगेन नामात्पुत्रेस्तस्याऽऽपारत्वात्पुत्रावामिति सन्तोऽयम् । निदोष्यमह — भीरतायाय=भीरो किनाऽपि प्रत्यये पूर्वोत्तरस्यभौत्वेण-स्ताया ममेतिवत्प्रत्ययेण मममहवान्महावीरधरस्तुर्भिर्दर, स एव सर्वमगुपकरकल्याण्यव तामीव, अथ च बरिषु वैशोऽसहौदार्य सहिव्यात्वादिमस्तु भीरपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धेषुसाधारणोपसर्गादिना-ऽपि सत्त्वाऽमप्यन्वयेतोर्नाम इन्द्र इव, महावीर इत्यर्थः । तस्मै नमो=नमस्कारोऽस्तु । भो शुक्लविरोषणनिधिह सौऽवस्व नमस्कर-णीय, तत्र सर्वमगुत्तमम् । शुक्लम्— 'शुक्लं मयवान् भीर' इति भावः ॥ १ ॥

श्रीमुखवत्त्वेन स्तुत्वा ज्ञानिमुख्यत्वेन स्तुवन्नाह—

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।

देवाऽधिदेव सर्वज्ञं श्रीवीर प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

सर्वेषामिति । सर्वेषाम्=सकलानाम्, न तु कतिपयानामेवेति बोध्यम् । वेधसाम्=ज्ञानिनाम्, आद्यम्=आदौ भवस्तम्, आदौ गणनीयं कीर्तनीयं चेत्यर्थः । मुखमिवाऽङ्गेषु प्रधानत्वान्मुख्यमिति वाऽर्थः । मुख्यो ह्यदौ प्रथममेव कीर्त्यते गण्यते चेति बोध्यम् । यद्वा—सर्वेषाम्, वेधसाम्=बहुवचनादुपलक्षणत्वाद्देवा ब्रह्मेन्द्रः, शेषाश्चेन्द्रास्तेषां पूज्यत्वादादौ भवमिव । अथवा, वेधसः=प्रजापतयस्तेषामाद्यं प्रथमम्, ऋषभप्रभु ह्यधि. पृथिवीनाथ, अर्हतां च सर्वेषामभेदः, यदुक्तम्—“यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्थमिचया यथा तथा । वीतदोषकलुष स चेद्भावनेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते” इति । तेषां—वेधसो विष्णवस्त्रिपृष्ठादयो वासुदेवा अर्धचक्रिणस्तेषामाद्यं प्रथमम् । भरतपुत्रो मरीचिर्हि प्रथमस्त्रिपृष्ठाख्यो विष्णु, मरीचिर्जीव एव च चरमोऽर्हन्निति श्रुतज्ञा । अतः श्रीवीरजिन एव वेधसामाद्य । “स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा” इत्यमर । “विष्णुर्निष्णुजनार्दनौ वसुशशविन्दुवेधस” इति हैमः । न केवलमसौ संसारिणामेवाऽऽवोऽपि त्वससारिणापतीत्याह—परमेष्ठिनाम्=परमे लोकोत्तरत्वात्सर्वोत्तमे भावे=पयवि तिष्ठन्तीति परमेष्ठिन. पञ्चाऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवस्तेषाम्, आदिमम्=आदौ भवम्, अतिजयाद्यसाधारण-गुणविशिष्टतया निहंतुकपरमकारुणिकतया सर्वजगदुपकारकतया च

मुस्यत्वादाशौ किरत्यमानमित्यर्थः । अत एव देवाभिदेवम्=देवेभ्यो-
ऽनिकं भेद देवम्, अत एव सुरासुरादिभिर्मिर्मकथा उत्सृजनादीति
भाव । एतेषां सर्वेषामेव विशेष्यानां हेतुभूते विरोप्यमाह—सर्वेषाम्=
करतन्नाऽऽमलकवृद्धिमलकेककाऽऽबोक्रऽऽकक्तिऽऽग्रासशार्कसार्वम् अन्य-
स्तनीदृश इत्यतोऽस्योक्तविशेष्यमुचितमेवेत्यमित्यन्धि । विशेष्यमाह—
भीवीरम्=भीसहितं वीरस्यं परमनीर्षिहरम्, अग्निदग्धम्=तस्मान्नि-
कियं कुर्म । तादृशाऽसाधारणगुणविशिष्टत्वादेक स एव मविभेदे
शनेच्छुमिरिति ह्ययम् ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रपञ्चरेण कस्याप्यप्रदत्तादिबोम्भतां समर्थं सम्यक्
कस्यापादिगूत्सया स्तौति—

कस्याप्यपादपाऽऽरामं भुतगाङ्गाहिमापठम् ।

विश्वाऽम्मोअरवि देवं वन्दे भीष्मातनन्दनम् ॥ ३ ॥

कस्याणेति । कस्याप्यपादपाऽऽरामम्=कस्याप्यं कुर्म तदेव
नाम्नविष्वापात्पाकितानां क्षीतच्छमयपादपत्तयसाफल्यमिति पादपा-
दृष्टत्स्य तत्रोद्दपोपथ्याम्यत्वाद्दराम उपकनम् तद्रूपम् । यथा क्षारामे
उत्पानां पादपान्दं रोहणेयादि तथा वीरच्छुम्भरोद्दपोपथीति परम्भरि-
रूपकम् । “कस्याप्य मङ्गलं शुभमि ति” क्षाराम् स्मादुपक-
नि ति क्षारम् । कस्याप्यप्रदत्तं ज्ञानात्, नन्दी मङ्गलमित्युक्तेरित्यत
आह—भुतगाङ्गाहिमापठम्=कृतानि शनेच्छुम्भरोद्दपोपथ्याम्यत्वाद्दराम
नङ्गवाद्यानि च तान्मेव कस्याप्याऽऽपाराऽपिच्छरवाद्वा तास्वा
भ्येक्यसिद्धा न्दी, गङ्गा हि क्षान्तादिना मुनोर्नी पारापत्तारिण्य शुक्ति

निमित्तमिति बोध्यम् । तस्या गङ्गायास्तत्प्रभवत्वात्तत्सम्बन्धी यो हिमाचलो हिमालयाख्यो नगाधिराजस्तद्रूपम् । यथा हि हिमवतो गङ्गा प्रभवति तथा वीगच्छुतानि, तथा यथा हिमाचलो नगाधिराजस्तथा शीरो ज्ञानीन्द्र इति रूपकेण ध्वन्यते । अत्रापि परम्परितरूपकम् । अत एव, विश्वाम्भोजरविम्=विश्व जगदेव विकास्यत्वसाधर्म्या-
दम्भोज कमल तस्य तद्विकासकत्वात्तत्सम्बन्धी रविः सूर्यस्तद्रूप, तम् । यथा रविणाऽम्भोज तथाऽनेन विश्व प्रबोध्यत इति परम्परितरूपकम् । अत एव, देवम्=देवाधिदेवम्, विनाऽपि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति ध्येयम् । श्रीज्ञातनन्दनम्=श्रीसमन्वितश्चाऽसौ ज्ञातस्य तथा-
ख्यातस्य ज्ञातकुलस्येक्षाकुविशेषस्य नन्दन आनन्दप्रदस्तम्, तत्रोत्पन्न-
त्वात्तदुत्कर्षकत्वाच्चेति भाव । चरमजिनेश्वरं श्रीवीरमित्यर्थ । वन्दे=
नमामि, यथा कल्याणध्रुतबोधलामः स्यात्, तस्यैव तन्निदानभावादिति
हृदयम् ॥ ३ ॥

सम्प्रत्यन्त शुद्धयर्थे वचनद्वारा चरमजिन स्तौति—

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।

भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्रं समाप्तम् ॥

पान्त्विति । भव्यानाम्=अनादिपारिणामिकमव्यत्वभाववताम्,
अभव्यमिजानामित्यर्थ । सेत्स्यता सम्यक्त्वतामिति परमार्थ । आन्त-
रमलप्रक्षालनजलोपमाः=आन्तरगन्तर्भवमात्मसम्पृक्तमित्यर्थ । तादृशं
यन्मलं विकार कर्म वा कषायादिर्वा, पक्षे शरीरसङ्घिष्टरज.प्रभृतिर्क

॥ तस्य प्रकृत्यन्ते परिसोपने, दूरीकरणे इति यावत् । यत्नं सति-
 मुष्णोपमानं यासां ता साहस्य., ^१षास्मसम्बन्धिर्कर्मकपायायात्सकर्म-
 शोपने सतिष्ठसमधीन्द्र इत्यर्थः । यथा अस्तेन शरीरादिसम्पृक्तमस्य
 शोपनं तथा त्रिनेश्वरदेशनामपनेनाऽऽन्तरमस्येति मन्त्रः । अस्तेन हि
 मस्यशोपनं मन्त्रिदमिति ह्ययम् । यद्यप्यान्तरमस्तेति विशेषणस्य मन्त्र
 सापेक्षत्वात्सामर्थ्यम्, तथापि देवशक्तस्य गुरुकुलमित्यादिबद्धमन्त्रा-
 स्समाप्तो बोध्यः । श्रीमहावीरस्वामिनः=श्रीसमन्वितो महावीरस्त
 वास्त्वश्वरमस्तीर्षिह्वर एवोपदेशादिना सन्मार्गप्रदर्शनादिना ह्युक्त्वा पाठ-
 क्त्वात्स्वामीत्वं तस्य श्रीमहावीरमस्ये., ददनागिर = धर्मोपदेशकपाति,
 वा=मुष्मान् भस्मान् पान्तु=भयापदभ्याम् । शरीरापनेन ह्यन्तर
 मस्यशोपनाच्छब्दं सर्वाऽप्याश्वरिहार इति ता देवनागिरः पान्ति-
 त्त्वं । तद्वचनमेव धरणं रागादिपरामृगणामिति साहस्यम् । यत्र
 शरीरादिमस्यन्तःशोपनं वाऽन्यदिति द्वयार्थेऽप्यमेवाऽप्यवसाया-
 वतिश्लोकात्पुनरापितोपमा ॥ ४ ॥

इति कश्चिच्छास्त्रसर्वश्रीदेमचन्द्राचार्यविरचिते वीरश्रिमन्त्रे
 श्रीश्रयोगच्छा विपतिघ्नासन्समादृश्यन्वगिरिमभूत्यनेच्छीर्षोद्धारकाचार्यवर्ष-
 श्रीमद्विजयनेमिसुरीश्वरपट्टकद्धारसम्पन्नशान्तमूर्त्त्याचार्यवर्षश्रीविजयविज्ञान
 सूरिश्वरपट्टपरमिद्वान्तमदोदधिमाह्वनविद्विशारदाचार्यवर्षश्रीविजयकस्तु-
 सूरिश्वरदिव्यव्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता श्रीतिक्तमस्या
 श्वास्या समाप्तः ॥

॥ प्रशस्तिः ॥

वृद्धप्रगुरु नमि स्तीर्थोद्द्वाराऽऽप्तसद्यशोनिचयः ।
 शासनसम्राट् जातो भविकुलकैरवकलानाथः ॥ १ ॥
 तत्पङ्कालङ्कारो बहुविवविरुदावलीपात्रम् ।
 विज्ञानः प्रगुरु मे समयज्ञः शान्तमूर्तिश्च ॥ २ ॥
 सुगुरु मे कस्तूरः प्राकृतविद्विशारदः सुरीशः ।
 नव्यभव्याऽब्जवन्धुः सिद्धान्तमहोदधिर्गीतः ॥ ३ ॥
 तत्कूपोपेतसुमतिः कीर्तिकला कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।
 सकलाऽर्हस्तोत्रस्य व्याख्या स्वाख्या समाख्यमिमाम् ॥ ४ ॥
 केऽपि द्रक्ष्यन्तीमामुपेक्षयाऽहङ्कृतिच्छलिताः ।
 कष्ट मनसि दहेयुर्हा ! मात्सर्यं दुरन्ततमम् ॥ ५ ॥
 वराकोऽसूययाऽसौ द्विगुणितनीलाऽऽननो न वचनीयः ।
 स्वकृतं सद्यो मुक्ते देवहतस्याऽपहत्याऽलम् ॥ ६ ॥
 तोपमेप्यन्त्यवश्यं गुणगृह्या प्रेक्ष्य तामेताम् ।
 व्याख्यासु सतीषु कतिषु सुमेषु कङ्कारमिव भृङ्गाः ॥ ७ ॥
 रसशीतांशुखनयने वैक्रमवर्धे समाप्तिमाप्तेयम् ।
 मौन्यामेकादश्या सकलाऽर्हद्भ्रष्टोऽर्हणा भूयात् ॥ ८ ॥
 नेतः कीर्तिमपेक्षे पाठकजनमनःप्रसाद तु ।
 तदर्हतो भक्तानपि सद्भक्त्येह प्रपन्नोऽसि ॥ ९ ॥

इति कीर्तिकलाव्याख्यासहित श्रीसकलाऽर्हस्तोत्रं श्रीवीरगिनस्तोत्रं च समाप्तम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सुरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

श्रीमहादेवस्तोत्रम्

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

वीतराग महादेव करुणावरुणालयम् ।

सिद्धथेकसाधनं सद्गीप्रदं केवलिन श्रये ॥ १ ॥

तपोगच्छनिरत्राऽभ्रभानु शासनचक्रिणम् ।

तीर्थोद्द्वाराऽऽप्तसत्कीर्तिं सुरिं नेमिं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

समयज्ञ विज्ञानं सुरिं शान्तमूर्तिं प्रगुरुम् ।

शिष्यप्रशिष्यसेवितचरणद्वन्द्वं नमामि जनतेढ्यम् ॥ ३ ॥

सूरीश. प्राकृतविद्विशारद. शारदेन्दुसितकीर्ति ।

कस्तूर शरण मे सिद्धान्तमहोदधिः सुगुरुः ॥ ४ ॥

पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहं व्याख्यां कीर्तिकलाऽभिधाम् ।

करोमि श्रीमहादेवस्तोत्रस्याऽर्थविदे मुदा ॥ ५ ॥

इह हि जगति सल्ल लोके मानाविषाऽऽपिन्यान्नादिनि
पीडितस्ततो मुक्तिमिच्छुर्बिविधेषुपायेषु प्रवर्तते । सत देवात्मन
मप्युपास्मन्तश्चै प्रतिपादित । देवाश्च बहवोऽनेकस्तुपुत्रकण्ठम
वतरवम्बन्त मन्नीरिता । तेषु च सर्वभेदो महादेव शिवमहेश्वरश्चै
प्यै, स्यात्तमहात्म्यो गीयते महात्ममनुपास्मते च । स च सर्वैक
किं गुण इत्यत्र सम्प्रदायमेवान्महान् मतमेव । अत एव न्यामोहो
मा मूर्धिति लोकादितेषु स्तनामपन्य कलिक्रसुसर्क्य भीहोमन्त्र-
चार्य शिवमहेश्वरमहास्त्रेपादिपदारं स्त्रेतुकं निरूपयित्वा महादेवं
सात्तुमुपमन्त भाशौ शिवपदारंनिर्वचनेन इत्या स्तुतवाह—

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽन्यप्रदम् ।

मङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाष्यते ॥ १ ॥

प्रशान्तमिति । यसा=शरीरम्, यदेवकर्मकमित्यर्थः । दर्शनम्
=अवलोकनम् प्रशान्तम्=अनुग्रहमनुद्वेगकरं सौम्यमुपशमनाद्येदो-
कत्वाच्छुभाभयध, न तु तीर्षान्तरमसिद्धदेवबद् मेवगान्त्रिक्यादि
विकारादुपमुद्वेगकरमसौम्यमित्यप्रशान्तमिति भावः । तथा प्रशान्त-
त्वादेव च सर्वभूताऽन्यप्रदम्=सर्वेभ्यो न तु कर्तव्येभ्य एव भूतेभ्यो
हीवेभ्योऽन्य मयाऽभायं प्रददति भयं न करोमीति सत्तादृशम्, न तु
देवान्तरबच्छुभारिसान्निभ्यात्त्रेपाद्याविष्टत्वास्त्रेपिपाशादेव कदापि
कृत्वाऽपि भयप्रदम् । सन्नादिमन्त्रे ि अन्ता विन्ध्यतीति भावः ।
अत एव मङ्गल्यम्=मङ्गलविषये साधु, महालाभमित्यर्थः । न
तु देवान्तरबद् भूतगतादिसिद्धपारात्कपालमुण्डमाकारिस्मन्विस्तार

मङ्गल्यमिति भावः । एतेन दर्शनस्य मङ्गलात्मत्वं सूचितम् । स्वयम-
 मङ्गलस्य मङ्गलहेतुत्वाऽव्योगादिति बोध्यम् । अत एव, प्रशस्तम्=
 वर्णनीयमदुष्टमिष्टं च, न तु दिगम्बरादिभावाञ्जुगुप्सादिकरत्वादप्रशस्त-
 मिति भावः । एतेन दर्शनस्याऽवश्यकरणीयत्व सूच्यते । यद्वद्य-
 प्रशस्त दर्शनं न तत्कस्याऽपि करणीयमिति बोध्यम् । चद्वयं सर्व-
 विशेषणसमुच्चये, तेन चैकैकमात्रस्याऽपर्याप्तत्वं सूच्यते, एतेषां गुणानां
 समुदितानामेव शिवत्वप्रयोजकत्वमित्याशयाऽवगमादिति ध्येयम् । अथ च,
 यस्य=यदीयम्, यदुपज्ञमित्यर्थः । दर्शनम्=पदार्थयाथात्म्यज्ञानाऽभ्यु-
 दयनि श्रेयससिद्ध्युपायमूतमार्गः, स्वाद्वादरूप सिद्धान्त इति गूढा-
 चूतम् । प्रशान्तम्=उपशमप्रतिपादकत्वात्कार्ये कारणोपचाराञ्छान्ति-
 प्रदमित्यर्थः । न तु दर्शनान्तरवद् हिंसासाध्यविध्याधुपदेशकत्वाद-
 प्रशान्तमिति भावः । तथा, सर्वभूताऽभयप्रदम्=सर्वभूताऽभयं प्रददाति
 दयाऽहिंसादीनां विधेयतया प्रतिपादनेन कृत्वा प्रयोजयतीति तत्तादृशम्,
 सर्वभूताभयोपदेशकमित्यर्थः । न तु देवान्तरोपज्ञदर्शनान्तरवदभिचारादि-
 प्रतिपादनेन कृत्वा भयप्रदमिति भावः । अत एव, मङ्गल्यम्=
 सम्यग्ज्ञानादिमङ्गलप्रयोजकत्वान्मङ्गलप्रयोजकम्, “नन्दी मङ्गलमि”त्यु-
 क्तेरिति बोध्यम् । अत एव चैतद्दर्शनमपि मङ्गलमिति सूच्यते । तत
 एव च, प्रशस्तम्=दर्शनश्रेष्ठम्, वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वात्सन्मार्ग-
 प्रदर्शकत्वाच्चेति भावः । यदुक्तम् “प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति
 शासनमि”ति । एतेनाऽस्याऽवश्योपादेयत्वं च्यन्यते । अप्रशस्तप्रशस्तत्व-
 योर्हेयोपादेयत्वप्रयोजकत्वादिति बोध्यम् । तेन=उक्तगुणमहिम्ना, स
 इति यच्छब्दबलाद्भव्यते । शिवा=शिव कल्याणमस्त्यस्येति स तादृशः,

शिवकवचाच्च इत्यर्थः । विधाप्यते=शप्यते, विचार्यते वा । ब्रह्मे
रिति शेषः । यो हि शुभकारकः शुभशुभाश्रयश्च तस्मिन् शिवपदवाच्यः
परमार्कतः । यस्मिन् हि धर्मेणमाहृत्यादिवैगुण्यात्पक्षे हिंसाविज्ञानवित्तु
पदेशकवाचोभ्यमुद्वेगकरमसौम्यमत एव न्यम्यत्वमत एवाऽऽहुत्स्यममस्तं
च, स चञ्चिदन्वयश्चोद्योऽपि को नाम विमान्यतः ? । एतत् वर्षस्य
कर्तुरनुष्ठेनेन लोकसामान्यकृत्येन लोकसामान्योपादेयत्वं च ज्ञान्यते ।
अनीदृशं तु वर्धनं न करणीयं नैवोपादेयमप्यद्विस्तारविन्मयेव ।
तीर्थाऽन्तरे बुधो भीमोऽन्ध्रप्रतो नमो मृतसस्यो मुण्ड्याऽद्विनिमृत्वे
हिंसाविज्ञानव्यथाविधिभिषयानवर्धनापुप्रेषक्यो निग्रहाऽनुग्रहमाप-
श्रयादिसहितश्च शिवो वर्धयते । स च मयैव शिवः । शिवमार्त-
लारस्यतश्च उर्ध्वनस्य न शिवः इति वस्तुतः खेऽपि एवेति गूढ-
कृतम् ॥ १ ॥

अथ निरुक्तिपूर्वकं तमेव शिवं महाेश्वरत्वेन स्तौति—

महेश्वरादीश्वरत्वाच्च यो महाेश्वरतां गतः ।

रागद्वेषविनिमुक्तं बन्देऽहं तं महाेश्वरम् ॥ २ ॥

महेश्वरादिति । यः=माहेशो देवः, उच्छमकर शिव इत्यपि
उच्यते । महाेश्वरात्=मम्यते पूज्यते साक्षात्तानितरसाधारणाऽऽर्चोक्ति-
सहस्रापनिशक्तमुद्दिमत्वात्तौकैरिति म्भान्, यद्यप्यद्विस्तृतमोचनं
पुरुषं यदुच्छं नित्यं स उच्यतेऽप्युच्यते इति पूज्यतम एवे'ति ।
ईश्वरत्वात्=ईष्टं वस्तुमप्यस्यसदमभेदोमार्गादिक्मनुसृष्टि साक्षा-
नित्येऽतीत ईश्वरः, सर्वैर्ध्याय्यतश्च, तस्य भावस्तस्मात्, यः स्तुयते ।

महत्त्वेश्वरत्वोभययोगादिति हृदयम् । महेश्वरताम्=महाश्चाऽसावी-
 श्वरश्च, तस्य भावस्तथा देवाधिदेवत्वमित्यर्थः । गतः=प्राप्तः, न तु
 नाममात्रेण भक्तैः श्रद्धादिना महत्त्वाद्यभावेऽपि तथाख्यात इति भावः ।
 उक्तगुणसम्पत्तौ हेतुगर्भं विशेषणमाह—रागद्वेषविनिर्मुक्तम्=रागो
 विषयासक्तिर्द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीतिरुपलक्षणत्वात्कषायाद्यध, तैविनिर्मुक्तम-
 समृक्तम् । तथाविधजानचारित्रादिना रागादिमूलकर्मणः साकल्येन
 क्षयात्कारणाऽभावात्कार्यस्य सुतरामभावाद्धीतरागमित्यर्थः । धीतराग
 एव महानीश्वरश्चेति स एव महेश्वरः । अनीदृशस्तु रागादिपरतन्त्रतया
 न महात्त्वेश्वर इति भावः । अत एव, तम्=तादृशं महत्त्वादीश्वरत्वाच्च
 महेश्वरता गतं धीतरागम्, महेश्वरम्=महेश्वरेत्यन्वर्थसजासजिनम्,
 देवाऽधिदेवमित्यर्थः । अहम्=भक्तिश्रद्धासमन्वितो विवेकी स्तोता,
 वन्दे=नमामि । स्वात्मोत्कर्षार्थमित्यात्मनेपदेन सूच्यते । यस्त्वनीदृशो
 वारपरिग्रहाऽसुरहननादिना रागद्वेषपरतन्त्रः, अत एवाऽमहाननीश्वरश्च,
 स न वन्दनीयो विवेकिभिरिति हृदयम् ॥ २ ॥

ज्ञानादिविशेषवैशिष्ट्यादेव देवस्य महत्त्वमित्याह—

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-ध्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

महाज्ञानमिति । यस्य=यादृशस्य देवस्य, लोकालोक-
 प्रकाशकम्=लोकस्य लोकवर्तित्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपदार्थसार्थस्य,
 तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति बोध्यम् । अलोकस्य च प्रकाशकं परिच्छे-
 दकम्, अत एव, महाज्ञानम्=महत्सर्वपदार्थविषयत्वावनन्तत्वाच्छुद्ध-

त्वाच्च सर्वमेष्टं कञ्चानं सत्, केनञ्चानमित्यर्थः । ज्ञानान्तरं तु क्व
 मुतादिकमस्यविषयमिति न उन्मद्दिति बोध्यम् । भवेत्=स्य ।
 य सर्वस्वार्थिसार्थपरिच्छेदककेवलज्ञानवानिति सारार्थः । तथा, ज्ञा-
 दयादमध्यानम्=महापत् सर्वमीशविषयत्वात्सिद्धरूपत्वाच्च सर्वोक्त्या
 दया, सा च सर्वेन्द्रियविषयत्वात्सिद्धिवेकसम्प्रदायत्वात्वाऽनस्योऽसाधारण्य
 दमः स च शुभात्मकत्वानिर्दिक्तस्यत्वाच्च सर्वोत्तमे यद्ग्रन्थानं समाधि
 तेषां समाहारो दयादमध्यानम्, सत्येति भवेदिति च सम्बन्धे ।
 दया=परतु-सम्प्राणोच्छ्वा, दम इन्द्रियमिन्द्र, ध्यानं च शुद्धध्यानमिति
 ध्येयम् । यदुक्तम् “सर्वात्मसु कृपाऽद्भुते”ति, “सक्तानि न
 चाऽध्यागि नैवेच्छुद्धस्तितानि च । इति सम्यक्प्रतिष्ठा स्वमेन्द्रियवत्त्वं
 ह्यतः” इति ‘ ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयमेकस्वर्गा गच्छति ”ति च ।
 सा=साक्षात् महाज्ञानदयादमध्यानपत् देव एव । सर्वं वाक्यं साक-
 धारणमिति न्यायादेशोऽर्थो सम्बन्धे । तेन चाऽऽप्यज्ञानदयादमध्यान-
 म्बन्धेऽद् । महादेवः=महादेवप्रतिपाद्य, उच्यते=कथ्यते ।
 महादेवपदेन स एव गीयते इत्यर्थः । न तु तीर्थान्तरमसिद्धो महा
 देवोऽस्यक्ता मुक्तिमार्गाष्टपदेष्टानिर्दयोऽनुरादिहन्मद्मरदितो वा
 परिग्रहादेर्दुष्मानो द्वेषिमृगियु कोपादिमत्त्वादिति भावः ॥ २ ॥

अयेन्द्रियममद्वारा देवस्य पुनर्महत्त्वम्—

महास्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्वः स्वशरीरके ।

निर्वृता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

महान्त इति । स्वशरीरके=स्व निज यच्छरीरम्, स्वार्थे क । तस्मिन्, निजदेहे, तिष्ठन्तः=वर्तमाना, ये=यत्प्रकारा, तुरेवाऽर्थे भिन्नक्रम स इत्यनेन सम्बध्यते । महान्तः=घनघान्याद्यपहारक-तस्कराऽपेक्षया बलवन्तो दुर्निर्माह्या आत्मसम्पदा सम्यग्दर्शनादीनां पश्यतोहरा, तस्कराः=चौरा, इन्द्रियाणि मनोवच काययोगरूप आस्रवो वा । तानि हि बलाद्धिषयेषु प्रवर्तयन्ति सदृशनादीनि मुष्ण-न्तीति बोध्यम् । “चौरस्तु प्रतिरोधकः । दस्यु पाटञ्चर स्तेनस्तस्करः पारिपन्थिक” इति हैम । अन्ये हि तस्करा परोक्ष एव बाह्य घनमेव च मुष्णन्ति, इन्द्रियाण्यास्रवाश्च शरीरे कृतस्थितय एव बला-त्तात्मसर्वस्वं दर्शनादिकमपहरन्तीति तानि महान्तस्तस्करा इति हृदयम् । ते इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते । येन=यत्प्रकारेणाऽनन्तज्ञानादिमता सवरसंवृततेन, देवेन=देवपदवाच्येन, निर्जिताः=वशीकृता निगृहीता वा । यो देवो जितेन्द्रिय सवरसंवृतश्चेति निष्कृष्टोऽर्थ, न तु दार-परिग्रहादिनिरत. शत्रुवधादिकदारम्भवाश्चेति हृदयम् । यदुक्तम्— “सयतानि न चाऽक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रतिपदा त्वयेन्द्रियजय-कृत” इति, “मनोवच कायचेष्टा कष्टा सहस्य सर्वथा । श्रुत्यत्वेनैव भवता मन-शक्त्य वियोजितमि”ति च । स तु= स एव, महादेव उच्यते । बाह्यतस्करजयवदान्तरतस्करजयो येन विहित स महादेव । बाह्यतस्करजये तु देवमात्रम् । अन्येषामपि तादृशत्वान्महत्त्वे बीजाऽभावात् । ततश्चाऽन्यादृशोऽजितेन्द्रियो हिंसा-चारम्भवाश्च देव परतीर्थिकप्रसिद्धो महादेव सामान्यदेवसदृश एवेति न केवलं महत्त्वमपि तु देवत्वमपि तस्याऽतिबहिस्त्याकृतम् ॥ ४ ॥

सम्पत्तिं वीतरागस्त्वेन महादेवत्वमाह—

रागद्वेषौ महामह्यौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।

महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

रागद्वेषाविति । येन=यत्रकारेण देवेन, महामह्यौ=महान्
 पराऽपेक्षया देहकम्पद्विवृतिप्रघातसर्वाधिकौ यौ मह्यौ श्लोके स्त्री
 स्मृतौ व्याप्यामादिना शारीरिकविवृतिप्रकृतिसम्पत्तौ वृद्धाङ्गौ, क्लृप्त
 एविव, अनादिकास्मृत्तत्वेनाऽतिवृद्धत्वाविति बोध्यम् । अत एव
 दुर्जयौ=दुःखेन जीयेते इति तादृशौ कष्टसाध्यनिग्रहौ महामह्यौ हि य
 सुकृततया जेतव्यं कस्याऽपि, महत्त्वस्याऽन्यथाऽनिर्वाहात् । एव
 महामह्येऽज्येयो मन्त्रु मा वा दुर्जेयस्तु भवत्येवेति भाव । रागद्वेषौ=
 रागो विषयेष्वादरो द्वेषोऽग्निश्रेष्ठीति तादृशौ तौ, महा अपि हि यो
 रागद्वेषभोरपीनासम्प्रेर्महामह्यस्यमुचितमेवेति ध्येयम् । निर्जितौ=
 निगृहीतौ त्यक्तस्वर्ष., विनाशिताविति यावत् । रागद्वेषौ निग्रह
 त्वागम्य नाशस्य धाऽनाशान्तरतेति बोध्यम् । तुरेवाऽर्षे मित्कृतस्य
 मित्यन्तर व्रतम् । तथा च, तं तु=तमेव, तादृशं महामह्यरागद्वेष
 जेतारं देवमेवेत्यर्थ । महादेवसु=महादेवपदाऽभिधेयम्, मन्ये=
 स्वीकरोमि । महामह्यजतुर्मादेकस्य सहोक्तमित्यस्तदेव स्वीकारार्थं
 मिति इत्ययम् । ननु तत्तर्षीर्षेषु बहवो महादेवा प्रसिद्धा, न च ते
 सर्वे वीतरागद्वेषाः परिग्रहादिना रागद्विसन्नाथाऽवगमात्, तत्तद्येदस-
 महादेवत्व तेषा कर्मवृत्तिं चेषमाह—शेषाः=रागादिजैतुरन्ये महा-
 देवपदसम्बोध्यै धे=निश्चयत., नामधारकाः=महादेवेति नामैव

धारयन्ति, न तु तत्र महादेवपदार्थोऽपि घटते । एवञ्च ते रूढचैव
महादेवा न तु योगत इति वस्तुतस्ते न महादेवा । नामनिशेषविषय-
ताया यादृच्छिकत्वात्तादृशमहादेवादिष्ठाऽसिद्धे । अर्थक्रियाकारित्वा-
द्भावतो महादेव एव महादेव । किञ्चाऽन्यैर्दुर्ज्ञेय यो जयति स एवेत-
राऽपेक्षयोत्कृष्टगुणवैगिष्टयान्महत्त्वास्पदम् । यदुक्तम्—“ अरको मुक्त-
वान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान् द्विषः । अहो महात्मना कोऽपि महिमा लोक-
दुर्लभ ” इति । रागादिपरतन्त्राणा देवाना रागादिजेता महानिति
वीतराग एव भावतो महादेवो नाऽन्ये । यद्वक्ष्यत्यनुपदमेव—“ शब्दतो
गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासन ” इति भाव ॥ ५ ॥

गन्तु नामभावमहादेवयो कतरस्तवेष्ट इति चेत्तत्राऽऽह—

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।

शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शब्दमात्र इति । लौकिकानाम्=लोका एव लौकिकास्तेषाम्,
साधारणजनानां वस्तुतत्त्वग्रहणाऽपह्नूनामित्यर्थः । लौकिकमर्थं बहु
मन्यमानानामिति यावत् । मते=सिद्धान्ते, शासने इत्यर्थः । स्वर्गादि-
मात्रसाधनहिंसादिसाध्ययजादिप्रतिपादके शाले इति हृदयम् । मतः=
दृष्ट प्रतिपादितश्च, महादेवः=महादेवाऽमिवो देव, शब्दमात्रः=
शब्द एव, शब्दत एवेत्यर्थः । न तु तत्र महादेवपदार्थो महादेवगुणो
वा, रागादिसत्त्वान्महत्त्वाऽभावात् । यदुक्तम्—“ स्पृहावन्तो विलो-
क्यन्ते लयवस्तृणतूलवत् । महाश्वर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधावि”ति
“ तूल तृणादपि लघु तूलादपि हि याचकः । वायुना किं न नीतो-

ज्यौ मामथं प्रार्थयिष्यतीति च । एषश्च मन्महत्वाद्भावेऽपि महादेव
 उच्यतेऽनो नामनिशेषविषय एवेति शब्दमात्र एव, न तु भावनिशेष
 विषयत्वाद्भाष्य इति वात्पर्यम् । ननु तर्हि महादेवः कः पारमार्थिको
 मत इति चेत्तत्राह—जिनशासने=अस्ति रागादीनिनि जिनस्तस
 तदुपपत्त्वात्तस्मिन्निनि शासने शास्त्रे नैनमवचन इत्यर्थः । शब्दतः=
 महादेवपदबोध्यात्वाच्छब्देन कृत्वा, सार्धविभक्तिश्चतस । गुणतः=
 ज्ञानेन्द्रियप्रवर्धितरागत्पादिभिर्गुणै कृत्वा, चैवेति समुच्चये । मत एव
 अर्थतः=महादेवज्यौ देवभेदस्यैवभावेन कृत्वा अपि=समुच्चये ।
 एषश्च जिनशासनमतो महादेव एव भावनिशेषविषयत्वाद्भाष्यतयो महादेव
 इति स्मैत्किन्मताऽपेक्षया परमायतो वस्तुमाहिरवैशिष्ट्यात्त्रोक्तोर्ष
 जिनशासनमिति ध्वन्यते । एषश्चाऽन्यस्तीर्षसम्मतो महादेवो महादेव
 गुणस्य महादेवपदार्थस्य चाऽऽत्मान स इयः किन्तु जिनशासनसम्मत
 एवेति स एवाऽऽध्यक्षीत्य इति भावः ॥ ६ ॥

मरुक्तं गुणतोऽर्षतश्चेति तदेव क्वचित्मि खोके विशुद्धयति —

शक्तितो व्यक्तितयैः विद्यानाल्लघुनात्तथा ।

मोहबालं तसं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

शक्ति इति । येन=बाह्येन देवेन, मोहबालम्=मोहो

ज्ये स्वबुद्धिः मरुक्तम्— 'अनित्यमनदेहादी नित्यत्वेन ममेति च ।

अज्ञानेनाऽऽकृता बुद्धिमोह इत्यभिधीयते इति । स एव संसारे

बालमनिक्रान्तपसाधनमिति आम्भु मोहस्य बालं परम्परा वा इत्यम्=

किनाशितम् येन मोहस्यक्त इति सारार्थः । सा=शक्तो देव,

शक्तिः=निजात्मवीर्यविशेषः, वीतरागस्य क्षायिकाऽनन्तवीर्यवत्त्वा-
दिति भावः । व्यक्तितः=सहजाद्यतिशयविशिष्टतया स्वीयेतरविलक्षणा-
ऽसंगघारणाऽलौकिकव्यक्तित्वमपेक्ष्य, चैवेति समुच्चये । विज्ञानात्=
विशिष्ट सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादनन्तत्वादिशुद्धत्वाच्चैतराऽपेक्षयोत्कृष्ट
यज्ज्ञान तस्मात्, केवलज्ञानाद्धेतोरित्यर्थः । तथा=पुनः, लक्षणात्=
सुरासुरनमस्यत्वादिरागद्वेषजयादिरूपमहादेवलक्षणस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य
च सद्भावाद्धेतोश्च, सः=तादृशो मोहजालहन्ता देव, महादेव
उच्यते । यो वीतमोहोऽनन्तवीर्य सातिशयव्यक्तिर्विज्ञानवान्, अत
एव महादेवलक्षणोपेतश्च स महादेव उच्यते, इतरस्तु शब्दमात्र इति
सार्थः । यद्वा येन विज्ञानात्स्वीयविशिष्टज्ञानवलच्छक्तितो निजात्म-
वीर्यविशेषत्वाच्च मोहजालं व्यक्तितो व्यक्तया, प्रत्येक व्यक्ति यथास्या-
त्तथा, अय मोहोऽय मोह इत्येवं प्रतिव्यक्ति शृङ्गग्रहिकया गृहीत्वे-
त्यर्थः । मोहसमूहसम्बन्धिन्य सर्वा एव व्यक्तय इति यावत् । इतम्, स
लक्षणात्सकलमोहहन्तृत्वरूपाऽसाधारणवर्मात्मकलक्षणहेतोर्महादेव उच्यते
इत्यर्थः । न तु तीर्थान्तरीयदेववद्भार्यावियोगादिना क्षणं विरक्तः,
स्वभार्यायां पार्वत्यां दक्षयज्ञे सृताया महादेवो विरक्तस्तपस्तेपे, पुनश्च
दारपरिग्रहः कृत इति पौराणिका इत्यनुसन्धेयम् ॥ ७ ॥

हृदानीं मदलोमजयाख्यगुणेन स्तुवन्नाह—

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविचर्जित !

महालोमविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

मम इति । महामदविबर्जित ! = मदै श्रान्तापुर्क्याऽस्मिमान-
 मनिताद्वैर्विबर्जितो रक्षित महान् श्रान्तापुर्क्यादिरूपमरुत्तर
 साकस्येऽपि साकस्येन द्रव्यदित्वास्त्वाधिक्याऽसौ मदविबर्जितश्च
 स तत्त्वः, यद्वा महान् अन्यपेक्षयाऽस्यपि यो मयस्तेन विबर्जित,
 तत्त्वबोधने, यो महता मदेन विबर्जित सोऽस्येनाऽपि तेन विबर्जितो
 मयस्येवेति सर्वविषमदविबर्जितत्वात्प्रापिको मदविबर्जित स एवेति
 निर्मदमेष्ट इत्यर्थः । देवान्तरं तु दमसानादिनिवासान् नृत्वाद्यभिनिवेशा-
 द्वाद्यभिमानेन हिंसादिमहात्प्राच मत्ततां माऽस्तिकामतीति न स
 महादेव इति ह्ययम् । “ पिच्छेक सयो मद ” इत्यमरः । तथा,
 महासोमविनिर्मुक्त ! = सोमः परस्त्वश्लेषेऽ, तेन विनिर्मुक्तो रक्षितः,
 निर्धोम इत्यर्थः । निप्यरिग्रहत्वादिति भावः । महान् साकस्येन सोम
 रक्षितत्वात्सर्वमेष्टो सोमविनिर्मुक्तः, यद्वा महद्भिर्देवोपादेयत्वात्
 त्यादिविवेकमरिहारेण महारम्भादिमयोऽवस्थावस्तुत्पदोर्ध्वैर्विनिर्मुक्तः,
 तत्त्वबोधने । महता सोमेन रक्षितोऽस्येनाऽपि तेन रक्षितो मयस्येवेति
 सर्वविषयो मरक्षित इत्यर्थः । न तु देवान्तरबद्धम्यपूजादिना प्रसप्तमान
 त्यादिनाऽनुमेयसोमगन्ध इति ह्ययम् । अत एव, महागुणसमन्वित ! =
 महद्भिर्नैः प्राप्यैर्निर्मदत्वनिर्धोमत्वादिभिस्तथा सर्वमूर्तोपकारितादिभिः
 सर्वोत्कृष्टविद्युद्गजानादिभिश्च गुणैर्बृहस्पतैः समन्वित सहितः, यद्वा
 महान् निर्मदत्वादिभिस्तत्त्वकारैर्गुणैः इत्या सर्वोत्तमत्वाऽसौ गुणसम-
 न्वितश्च स तत्त्वबोधने । गुणबोधेत्यर्थः । अत एव महादेव !
 = महान् देवान्तराऽपश्यसाऽधिकगुणत्वात्सर्वमेष्टत्वाऽसौ देवश्च, तत्त्वबो-
 धनः । वा इति महादिरक्षितो गुणत्वाच्च स महादेव, अन्यथा तु सर्वो

महादेवं एव स्यादिति हृदयम् । ते=तुभ्यमेव तादृशाऽनुत्तमविशेषण-
विशिष्टाय, न त्वनीदृशाय, सर्वं वाक्य सावधारणमिति न्यायादिति
बोध्यम् । नमः=नमस्कारोऽस्तु, ममेतिशेष । मदादिराहित्याय
गुणलाभाय च तादृशो महादेव एव नमस्करणीय उल्लेखत्वान्नाऽन्यादृशो-
ऽभकृष्टत्वादात्महितेच्छुमिरिति तीर्थान्तरप्रसिद्धो महादेवो न केवलं
शब्दमात्रोऽपि तु नमस्कारमपि नार्हतीत्याकूनम् ॥ ८ ॥

सम्प्रति पुना रागाद्यभावात्तन्महादेवत्वमाह—

महागगो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।

कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

महाराग इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन सुवनाऽद्भुताऽतिशय-
शालिना, महारागः=महान् गुरुतरो दुष्परिहरत्वाद्दृढतरश्चिरसह-
चरत्वाद्दृशीकृतजीवमात्रत्वाच्च दुर्जयश्च यो रागो विषयाऽनुरागो विषया-
ऽऽसक्तिर्विषयेषु प्रीतिर्वा स तादृश, “रागोऽनुरागोऽनुरति”रिति
हैमः । महाद्वेषः=महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो द्वेषोऽनिष्टेष्व-
प्रीतिः स तादृश, तथैव चेति समुदाय समुच्चये । महामोहः=
महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो मोहोऽस्वे स्वबुद्धिः, स तादृश,
कषायः=क्रोधमानमायालोभात्मकाऽऽत्माऽशुभपरिणाम, चः समुच्चये ।
हतः=विनाशित, त्वक्त इत्यर्थ । रागादीना हि त्याग एव नाश
इति बोध्यम् । न तु देवान्तरवन्निग्रहानुग्रहपरिग्रहादिनाऽनुमितरागादि-
मानित्याकृतम् । परे देवा रागादीनपि हन्तुमप्रभवोऽयं तु महारागा-
दीनपि हन्तीत्यत एव, सः=तादृशमहारागादिहिननसाधनाऽसाधारणा-
ऽलौकिकाऽऽत्मवीर्यसम्पन्न, महादेव उच्यते । देवाऽन्तराऽसाध्य-

महारागादिहननावस्यैवोचितं महत्कम् । अनीहस्तु यथा देवान्तर-
साधारण इति सम्बन्धमात्रं स इति हृदयम् ॥ ९ ॥

सम्प्रति महाव्रतोपदेशादिना महादेवत्वमाह—

महाकामो हतो येन महामयविषजितः ।

महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

महाकाम इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाकामः=महान्
अस्वीक्यमि वस्तुन्युक्ततया गुरुतर उक्तपकारेण हृदरो दुर्बलम
मः कामो भोगोपभोगेष्वत्र स तादृशः सर्वपकारस्य काम, इतः=
क्षमाभरणेन विनाशितः, यो महान्तं कामं हन्ति सोऽस्य हन्तीति
क्विसु शक्यमिति सर्वविषकामहन्तीति यावत् । न तु परतीर्थिकप्रसिद्ध
महादेवत्वकामं दग्धाऽपि पुनस्तद्वत्सगोऽस्यकामहन्तीति यावः । न्तु
मिष्कामोऽपि देवान्तरवर्जितो न भवेदिति चेत्तत्र—महामयविष-
जितः=महान् गुरुतरप्रकरणसूक्तत्वाद्बुद्धिनिवारत्वादनस्य ब्रह्म मय
मयमित्यर्थः । तदेव महद्ब्रह्म बुरुष्येच्छत्वात्, अन्त्याहृष्टौ पौराऽभिहित
वादिभ्यं तु कथञ्चिदन्वैरप्युच्छेधमित्यल्पमेव, तेन विवर्जितो रहित,
क्षीणाऽशोक्तमत्वात् सर्वथा निर्भय इति हृदयम् । महामयारहितत्व द्वि
न्यऽस्य मयमपीति बोध्यम् । अत एव देवान्तराद्यैश्चिद्व्यम् तस्य द्वि
भक्त्याऽनुच्छेदात् कथमन्यथा स्वविक्रमररक्षार्थमसुरादिनिग्रहमयास
पुराण्यदौ वर्जित इति भावः । शोषेपकाराऽपेक्षयाऽपि तस्य महत्त्व
मपेक्षितमित्याह—महाव्रतोपदेशी=मास्तरौऽप्यनुपवादिक्तप्रदत्वा-
त्सर्वब्रह्मं यदुक्तमहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्माऽपरिमहाघातकं पारिवं तदुप

दिशतीत्येवशील, तादृशत्रतस्योपदेशोऽस्त्यस्य विधेयतया प्रतिपाद्यतया च वा स, च समुच्चये । न तु बालतपोहिंसादिसाध्ययज्ञादिरूप-
निकृष्टत्रतोपदेशीति भाव । स महादेव उच्यते । यस्त्वल्पकामहन्ता
दारपरिग्रहादिना कामाधीनो वा भवमश्रतया भवभीतोऽल्पव्रतोपदेशी
च शासनान्तरे प्रसिद्धस्तस्य तु देवत्वमप्यतिबहु, तस्मात्स महादेवः
शब्दमात्र एवेति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

अथ क्रोधादिजेतृत्वेन महादेवत्वमाह —

महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।

महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महाक्रोध इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाक्रोधः=महा-
नस्युत्कटो हिंसादिप्रवृत्तिप्रयोजकतयाऽतिचिरस्थायितयाऽनल्पश्च य क्रोधो
विविधाऽनिष्टप्रयोजकतया स्वसजातीयेषु गुरुतरः कोप, तथा, महा-
मानः=महान् गुर्वादिष्वप्यवज्ञाप्रयोजकत्वादतिमात्रो यो मानो मम
जात्यादिक सर्वाऽधिक नाऽन्य कोऽपि मादृश इत्येव जातिकुलैश्वर्य-
विधाद्यभिमान, स । “गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिरि”-
त्यमर । तथा, महामाया=महती परैर्दुर्ज्ञेयत्वाद्दुष्कारा या माया
शाठ्य मिथ्याव्यापारेण परवञ्चनादिरूप सा । “माया तु शठता
शाठ्यमि”ति ह्यम । महामदः=महान् अविनयादिप्रयोजकत्वादुस्तरो
यो मदो बलैश्वर्याद्यधिक्यभावनाननितचित्तोद्रेक, स । अत्यधिक-
मौद्धत्यमित्यर्थ । “चित्तोद्रेक समयो मद” इत्यमरः । तथा महालोभः
=महान् स्वल्पेऽपि वस्तुनि महाजनादियाच्चादिप्रयोजकत्वादतिलघुत्व-

सम्यावकत्वाद्दृष्टवाननिमात्रस्य यो लोम परस्वप्नहेच्छा, स । सर्वत्र
 क्रोधाद्यौ महत्त्वविशेषणाद्यस्य दुर्धनत्वमन्वैरस्मत्सत्त्वैर्धन्यते । इति=
 किनास्ति, परिहृत इत्यर्थः । महामायेत्कनेन स्वस्व इतेति किं
 विपरिणामेनाऽऽस्यो वेद्यः । निष्कृष्यायो निर्मित्य यो देव इति
 सारग्यं । स महादेव उच्यते । स त्सुरात्रिहनापुमीतन्मन्त्रेण
 सम्पन्नोऽहमेव सर्वमहानिति भाषनया महामानी रूपपरिचयनप्रतिना
 परब्रह्मकृत्वाण्डवाविप्रस्तकत्वन्महाम्य पूज्योपहारप्रदहणविनाऽनुमिति
 महात्मेम पुराणाद्यौ तथात्वेनोपकर्तित परेद्यो देव । तथा क्रोधादि
 रसि परम्य दुर्धन, मस्य तु महाक्रोधादिरसि सुब्रह्म, सोऽस्यै
 महादेव स एव च महादेवः । येन च महाक्रोधादिर्हन्तस्य क्रोधादि
 हन्तं किञ्चिन्नि सर्वथा सर्वत्र च क्रोधादिरहितस्याजिनघातनेद्यो देव
 एव महादेवोऽयमस्तु सत्यमात्र इति मन्त्रः ॥ ११ ॥

मन्त्रान्तरेणाऽपि त्रिमस्यैव महादेवत्वमित्याह—

महानन्ददये यस्य महाप्रानी महातपाः ।

महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

महानन्देति । यस्य=महादेवस्य देवस्य, महानन्ददय=
 क्षान्धताऽऽवृत्तिनिष्पत्तिनिर्विकल्पत्वात्मवर्षाधिकोऽन्तो वा सर्वभेद्य, तथा
 महती निःकारणत्वात्सर्वधीनविश्वत्वादत्यैकित्वात् साराऽभिरा च ते
 च ज्ञानन्द गुणं दयाऽऽर्तत्राणप्यञ्च च त च महानन्ददये, तथा स
 इत्यर्थवत्त्वम्यते । महानन्दा दया ध्येति वचिष्यात् । तथा सति
 मगन्ती दया स । दया च म्येत्यथ । मन्त्र मन्त्रादयसा भवतु

कमपि महत्त्व गम्यते । -महानन्दादिसमर्थनक्षमं गुणान्तरमप्याह—
 महाज्ञानी=महदन्तत्वात्सर्वविषयत्वात्सर्वाधिक क्षायिकत्वात्सर्वविशुद्धं
 च यज्ज्ञान केवलज्ञान तदस्त्यस्येति स तादृश, सर्वज्ञ इत्यर्थ । यो
 महाज्ञानी तस्यैव महानन्ददये इति भाव । अनरवन्ति चक्राणीतिवत्कर्म-
 धारयान्मत्वर्थीयो बोध्य । हेतुद्वारकेण विशेषणेन ज्ञान समर्थय-
 न्नाह—महातपाः=मह-परैरसाध्यत्वान्निरन्तरत्वान्निर्दुष्टत्वान्महाफलत्वाच्च
 सर्वोत्कृष्ट सर्वविशुद्धं सर्वाधिक च तपोऽनशनाविरूप यस्य स तादृश,
 ज्ञानतपसो फलमाह—महायोगी=महान् सर्वाऽतिशयमूलतयाऽलौ-
 किकतयाऽसाधारणतया सर्वकर्मक्षयप्रयोजकतया चाऽनुपम, सर्वोत्कृष्टो
 निरन्तर प्रवृत्तोऽसाधारणो योगश्चारित्र समाधिर्वा यस्य स, योगीन्द्र
 इत्यर्थः । यदुक्तम्—“स एष योगसाम्राज्यमहिमा विश्वविश्रुत ।
 कर्मक्षयोत्थो भगवन् । कस्य नाऽऽश्चर्यकारणम् ?” इति । ज्ञानतपसो-
 र्महायोगलाम. फलमिति कृतार्थत्वं ध्वन्यते । महामौनी=महत् सर्व-
 विलक्षणत्वात्सर्वोत्तमत्वादभङ्गुरत्वाच्चाऽसाधारणत्वाच्च सर्वश्रेष्ठं यन्मौन
 वाचयमता, तदस्त्यस्येति स । प्रियपथ्यतव्यमितवाक्यं हि पारमा-
 र्थिक मौनम्, वाङ्निरोधश्च शब्दार्थमात्रम्, वाङ्निरोधात्मकमौनस्य
 हि सदुपदेशादिविरोधितया लोकहिताननुगुणत्वादिति ध्येयम् । किञ्च
 महत्सर्वाऽतिशायि यन्मौन मुनित्व मुनेर्भावः कर्म च, तदस्त्यस्येति स.,
 महाज्ञानचारित्रसम्पन्न सम्यक्तुसम्पन्नश्चेत्यर्थः । यदुक्तम्—“सम्यक्तुमेव
 तन्मौन मौन सम्यक्तुमेव वे”ति बोध्यम् । स महादेव उच्यते ।
 लौकिकाऽनन्दमग्नो -निर्दयोऽल्पज्ञोऽल्पतपा वालयोगी मायामौनव्रती

श्लोकहिताऽनुगुणमौनी च परस्म्यतो देव इति स शब्दमात्र इति व
 त्किञ्चिदप्यम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति श्रीर्षादिमहत्त्वान्महादेवत्वमाह—

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुणः ।

महामञ्जुव्रमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

महावीर्यमिति । यस्य = भावस्तस्य देवस्य, महावीर्यम् =
 महावसाधारणत्वात्कौकिल्यत्वात्साविकत्वादनन्तत्वात्वाऽनस्य सर्वाधिकं
 सर्वोत्तमं च महीर्यं सात्त्विक्यम उवाहा, क्त । महाधैर्यम् = महावस-
 श्लेषसर्गादावप्यपस्वित्वात्प्रमस्यमसाधारणत्वात्कौकिल्यं सर्वाधिकं बद्
 धैर्यमस्मान्मत्त्वमत्तराऽनुव्रोगश्च तत् । महाशीलम् = महावसाधारणत्वा-
 दकौकिल्यत्वात्कण्ठत्वात्सममत्वाच्च सर्वोत्तमं मच्छीलं चारिषं क्त ।
 महागुणः = महान् महद्विरपीन्द्राधिः सृष्टीन्वत्त्वादसाधारणत्वाद्
 कौकिल्यत्वात्सर्वोपकारकत्वाच्च सर्वाङ्गदो यो गुणो विदोर्णं सम्बन्ध-
 श्चिद्विद्विद्य च । महामञ्जुव्रमा = महती शक्तौ सत्यामप्य-
 पत्त्ररिप्यपि भावावसाधारण्यकौकिल्यं च अत एव मञ्जु मनोरमा
 च या कृमा तित्थिषा सा । 'तित्थिषा सहर्षं क्मे'ति "मञ्जुमञ्जुत्-
 मनोरमाणि चे"ति च हेमः । सात्मप्यतिष्ठमुच्यते । एवमेतानि
 अस्य, स महादेव उच्यते । न तस्यदेववदृष्टकृत्स्नत्वात्स्वकीयोऽस्मि-
 नाऽपि श्रोम्यत्वात्सर्वो बाराविपरिमहादिना स्फुटितसीक गुणऽ-
 गुणवयाऽऽहासादिमत्त्वात्स्वगुणोऽस्मिऽप्यपराधे निम्नोपत्त्वात्सहान्,

प्रसिद्धं चैतत्सर्वं तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य महादेवस्य पुराणादौ । तस्माच्छब्द-
मात्रो महादेव परशासन इति भाव ॥ १३ ॥

अथ स्वयम्भूज्ज्वाद्यर्थनिर्वचनेन कृत्वा जिनशासनप्रतिपादितस्य
महादेवस्यैव स्वयम्भूपदवाच्यतेत्याह —

स्वयम्भूत यतो ज्ञान लोकाऽलोकप्रकाशकम् ।

अनन्तवीर्यचारित्र स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

स्वयम्भूतमिति । यतः = यस्य देवस्य, सार्वविभक्तिकस्तस् ।

यस्माद्धेतोरिति वा । लोकालोकप्रकाशकम् = लोकस्य चतुर्दशरज्जु-
ग्रमाणस्य जगतोऽलोकस्य लोकवहिर्भूतस्य च यावत् आकाशप्रदेशस्य
प्रकाशक परिच्छेदकम् । यद्यपि लोकाह्वहिर्भूत न किमपि ज्ञेय तथापि
यदि स्यात्परिच्छिद्येतेति सम्भावनया महत्त्वद्योतनाय तथोक्तिरिति
बोध्यम् । ज्ञानम् = केवलज्ञानम्, तज्ज्ञान हि क्षायिकमिति निरावरण-
त्वालोकालोकप्रकाशकमिति बोध्यम् । स्वयम्भूतम् = स्वयमात्मना
परोपदेशादिक विनैव नूत प्राप्तमाविर्भूत वा । कर्मक्षये हि मेघापगमे
सूर्यवज्ज्ञान स्वयमेवाऽऽविर्भवति । किञ्च जिनाना क्षयोपशमवशाज्जन्मत
एव ज्ञानत्रयसमन्वितत्व निसर्गत एवेति बोध्यम् । तथा, अनन्तवीर्य-
चारित्रम् = अनन्त क्षायिकत्वादेवाऽविनश्वर वीर्य सातिशय उत्साहश्चारित्र
शील च, सः = यतो यस्यैतानि, तत एव तादृशो देव, स्वयम्भूः =
स्वयम्भूरित्येवम्, अभिधीयते = गीयते । ज्ञानस्य स्वयम्भूतत्वादेव
स्वयम्भू, न तु परदेववदज्ञातजन्मत्वादिनाऽल्पज्ञानवीर्यचारित्र स्वयम्भूः ।
एवञ्च लौकिकानां मते स्वयम्भूरपि शब्दमात्र, जिनशासने तु गुणतः
शब्दतोऽर्थतश्चेति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

स्तु यद्भवता दृश्यतोऽर्धनम्य विनशास्तु इत्युच्यते स किमपि
इत्यपेक्षायामाह—

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः छद्मस्य प्रकीर्तितः ।

कायोत्सर्गी च पर्यङ्गी स्त्रीशस्त्रादिविबर्जित ॥ १५ ॥

शिव इति । यस्मात्=मतो हेतो, विनः=व्यति रागादीनि
विनस्तीर्षिहर श्रवमन्ताद्यदि । कायोत्सर्गी=वाय क्षरीरमुत्सृजते
सुप्तत्वेन म्बाप्यते नासाग्निस्तम्बिरदृष्टया यत्र स कायोत्सर्गो मुद्राविरोध-
सोऽस्त्यमेति स उत्थितस्य सत सुबक्षरीरनासाग्निस्तम्बिरदृष्टिता
सकस्त्रिविशेषमाश्रित इत्यर्थ । तथा, पर्यङ्गी=पर्यङ्गसनस्त्रि,
सकस्त्रियं यथा— स्याज्जन्मयोरधोभागो पादापरिहृते सति । पर्यङ्गो
न्यामिगोचनदक्षिणोत्तरपादिक” इति । समाधिश्च इत्यर्थः । क्रियाकाले
कायोत्सर्गी समाधौ च पर्यङ्गीत्येव कालभेदेनाऽवस्थामदेन चोमबो-
सत्त्व बोध्यम् । स्त्रीशस्त्रादिविबर्जितः=स्त्री द्वाराद्य क्षत्रमायुष
चादिना बाहनमूफ्यादि च तैर्विबर्जितो रहितः, निष्परिमह इति यावत् ।
युक्तम्— वपुष्य पर्यङ्गस्य सुखे च दृष्टौ च न्यसान्निभते स्थिरे ये’ति,
न शूलचापशस्त्रादिस्त्रिणाहकरफलम् । मात्रनाकमनीबाह्यवर्तिव्यह
परम्य इति न पक्षिपशुसिंहादिबाह्याऽऽसीनविग्रह । इति च ।
चा=समुचये । मन्त्रब्रह्मनात्स्यदिति उच्यते । शिव =शिव
इत्यभिप्राया प्रोक्त =मगीन छद्मः=छं कल्पाने करोतीति स तद्वत्,
च समुचये । प्रकीर्तित =उपनिषत् । द्वाविद्विधोऽसमाहितत्वेता
भ्युदितवपुष्याऽश्विनोऽभियन्त्रस्य दक्षपारणादेरन्वया निष्कस्यवयेति

परतीर्थेणो देवो न शिवो नाऽपि शङ्करः, किन्तु शब्दमात्रेण स शिवः
शङ्करश्च । गुणतोऽर्थतश्चाब्दतश्च जिन एव तादृश इति तात्पर्यम् ॥१५॥

परतीर्थप्रसिद्धस्य महादेवस्य साकारनिराकारत्वादि बद्धर्ष्यते,
जिनशासनेष्टस्याऽपि तत्तथैवेति न तावताऽपि तस्य वैशिष्ट्यमित्याह—

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।

परमात्मा च ब्राह्मात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

साकारोऽपीति । सः=जिनशासनेष्टो महादेवः, हि = यत्, साकारः=ससाराऽवस्थाया शरीरित्वाद्वाकारेण यथाक्रमसन्निविष्टाऽङ्गादि-
वटिताऽऽकृतिविशेषेण सहित, शरीरीति यावत् । ससारीति हृदयम् ।
न तु देवान्तरवद्वतारग्रहेण तथा, मुक्तस्य जन्मग्रहणाऽयोगात् ।
जन्मादितो मुक्तिरेव हि मुक्तिरिति बोध्यम् । अत एव, मूर्त्तः=
निश्चयनयेनाऽऽत्मनः स्वभावतोऽमूर्त्तत्वेऽपि संसाराऽवस्थायां कर्माऽष्ट-
कोपगूढाऽऽत्मप्रदेशत्वाच्छरीराऽधिष्ठितत्वाच्च व्यवहारनयेन कथञ्चिद्रूपी,
अपिना साकारस्याऽनाकारता विरुध्यत इति सूच्यते । अपेक्षा-
भेदेन त्वविरोध इति बोध्यम् । तैथैवेति समुच्चये । अनाकारः=
सिद्धावस्थाया कर्मणां साकार्येनाऽभावाच्छरीराद्यभावादविद्यमान आकार
उक्तप्रकाराऽऽकृतिर्यस्य स तादृशः, अशरीरीत्यर्थः । मुक्त इति यावत् ।
चो=हेतौ, यतोऽनाकारोऽत एव, अमूर्त्तः=अरूपी, कर्मसम्बन्धाऽभावा-
त्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्याऽप्यभावादिति भावः । एतेन परेष्टदेवस्य यथा साकार-
निराकारत्वादि तथा जिनशासनेष्टदेवस्याऽपीति न तावता कस्यचिदेक-
स्याऽपि न्यूनत्वमुत्कर्षो वा वर्णयितुं शक्यत इति सूच्यते । जिनशासने

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, तत्रैव
 अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणात्कम्यते । परमात्मवित्त-
 मनुष्यमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति व्येयम् । एवञ्च साक्षात्पर-
 म्यादिना न केवलं परतीर्थेष्टस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यं,
 जिनशासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रत्युत्तमानत्र तं
 गुणानां सत्त्वात्सान्यमेव । किन्तु मत्तान्तं दत्तं न स्येत्यादिना दर्शितं
 वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थेष्टमहादेवस्य
 न्यूनता तत्रवस्त्वैवाऽप्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

अथुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, कमस्तुवुपपिपयश्चिउत्तौ
 परमात्मत्वमेवाह—

दर्शनज्ञानयोगेन परमाऽऽत्माऽयमव्ययः ।

परा धान्तिवर्हिता च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अव्ययम्=प्रकृतौ जिनशासनेष्टे महादेव,
 अव्ययः=अविनाशी, आत्मनो दम्भमेन निरुत्थादिति भावः ।
 दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं सात्त्विकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानार्थं
 उच्यते किन्तु उच्यते अद्यानात्मकं सम्पत्तं च, ज्ञानं सात्त्विकं
 केवलज्ञानं स्वाद्यावाऽस्मिन्वाऽनेकान्तरात्मकत्वबावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानं च,
 तयो स्वस्मिन् योग सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मक्य परिप्राग
 इति उच्यते, तेन हेतुना । जिनस्य हि अन्तत एव दर्शनज्ञानत्रय-
 युक्तत्वा दीक्षानन्तरं पातिर्नरक्ये केवलदर्शनज्ञानुक्तत्वा चेत्याह्वयः,
 यथा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=अन्तरपापपायरहितत्वावविनाशी

निर्विकारो निर्गुण इत्यर्थः । परमात्मा=परमो ज्ञानादिगुणोत्कर्षात्सर्वो-
 कृष्ट पृष्टप्रकृतिरुत्तमोत्तम आत्मा । एतेन नहि निर्हेतुक परमत्व-
 मात्मनोऽपि तु परमज्ञानादिगुणोत्कर्षात् । अत एवोक्तगुणसद्भावाज्जिन
 एव वस्तुतः परमात्मा । तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य च महादेवस्य परिग्रहेण
 रागादिमत्स्वनिश्चयान्मत्यजानादिकमेव, पुराणादितस्तस्यैकान्तात्मकवस्तु-
 रूचेरेवाऽवगमादिति तस्य परात्मत्व शब्दमात्रमिति समर्थितम् । यद्वा-
 ज्य जिनशासनेष्टो महादेवो ज्ञानदर्शनयोगेन कृत्वा, अव्ययः=न
 ज्येति परात्मत्वतोऽप्यगच्छति=दर्शनज्ञानादिना रहितो भवति, जन्मत
 एव ज्ञानत्रयादियुक्तत्वादित्यव्ययः परमात्मा । सर्वविशुद्धज्ञानादितो
 ज्ञात्मव. परमत्व न तु वाङ्मात्रतः, ज्ञानादि चाऽस्य जन्मत एवेत्यय-
 मव्ययः परमात्मा परमात्मत्वतो न कदापि क्षीयते । परेष्टदेवस्तु
 लौकिकेषु विशिष्टज्ञानादिना बाढं परमात्मा गीयताम्, न त्वव्यय.
 परमात्मा । अवताराद्यवस्थाया लौकिकविशिष्टज्ञानस्याऽप्यभावादिति
 जिनशासनेष्टो देव एवाऽव्यय परमात्मेत्याशयः । ननु “य सर्वज्ञः
 सर्वविदि” त्यादिना परेष्टदेवस्याऽपि सर्वज्ञत्वादिकमिति तस्यापि परमा-
 त्मत्व पारमार्थिकमेवेति चेत्तत्राह—परेति । यस्येत्यर्थवलाह्लभ्यते ।
 यस्याऽत्मनो महादेवस्य, परा=सर्वाधिका सर्वोत्कृष्टा च, मित्रद्वेषि-
 साधारणत्वात्परां क्राष्टामापन्नैत्यर्थः । क्षान्तिः=क्षमा, निग्रहसामर्थ्यं सत्यपि
 चीतरागत्वादपरायादिसहनमित्यर्थः । यदुक्तम्—“हिंसका अप्युपकृता”
 इति, “कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः । ईषद्वाप्यादयोर्मद्
 श्रीवीरजिननेत्रयोरिति चेति भावः । अहिंसा=प्राणातिपातनिवृत्तिः,
 चेन परेति सम्बध्यते । सर्वजीवविषयत्वात्सर्वसावद्यविरतत्वाच्च परा

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, त्वैव
 अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकृत्याल्लभ्यते । परमात्मदिव्य-
 मनुष्यमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम् । एवञ्च साकारनिराकार-
 आदिना न केवलं परतीर्णैस्तु महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यं,
 जिनशासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रसूतोन्मत्तं तेषां
 गुणानां सत्त्वात्सान्मयेव । किन्तु प्रज्ञानं दृष्टं न मत्स्येष्टदिना रक्षितं
 वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्णैश्च महादेवस्य
 न्यूनता त्वत्स्यैवाऽप्यापीति शोभ्यम् ॥ १६ ॥

यदुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, कर्मक्षेत्रवुपपिपादयिष्यतीति
 परमात्मत्वेनाह—

दर्शनज्ञानयोगेन परमाऽऽत्माऽपश्यथः ।

परा क्षान्तिरर्हिसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अयम्=प्रसूतो जिनशासनेष्टो महादेवः,
 'अभ्ययः'=अविनाशी, आत्मनो द्रम्पनयेन नित्यत्वादिति श्रम ।
 दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं शक्तिं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं
 सत्यसिद्धं जिनोक्तत्वेषु मदानात्मकं सम्पत्स्य च, जने शक्तिं
 केवलज्ञानं स्वाद्यादाऽमिमदाऽनेकान्तरात्मक्यबाबलितस्तुसत्त्वज्ञानं च,
 तस्यो स्वस्मिन् योगः सम्पत्स्यः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मक्य परिणाम
 इति सत्त्वम् तेन हेतुना । नित्यं हि अन्मत् एव दर्शनज्ञानत्रय-
 युक्तया बीजानन्तरं शक्तिर्मात्मके केवलदर्शनज्ञानयुक्तया चेत्यात्म-
 यत्वा दर्शनज्ञानयोगेन, अभ्ययः=अन्मत्तत्वात्पावरहितत्वात्अविनाशी

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्माक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयो-
 रन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भावो बाह्य स
 चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ ह्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च
 रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति
 भाव । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानाव-
 स्थायात्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदिति-
 हाऽपि सम्बध्यते । देहे तिष्ठन् ध्यात्वा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति
 बोध्यम् । इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रि-
 प्रकारः, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यम-
 स्तैव शुक्तिशुक्तम् । ततश्च नाऽनो वैशिष्ट्यमन्यदेवत्येति तात्पर्यम्
 : ॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।

पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाद्ब्रह्मते ।
 दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकलः सन्, भव-
 स्तजदशाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्य-
 स्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्णः । अत एव, सकलः=कलामि-
 र्भावस्थाभाविगुणै सहितः सकलः, सगुण इति यावत् । आत्मा हि
 शून्यदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । दोष-
 वर्जितः=दोषरूपप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

क्राद्यभापकत्वात्सर्वाभिका सर्वोदृष्ट्य च, सा=तत्सो देवः, परमात्म
 =परम परमकल्पार्थिहादिसुखात्सर्वमेवम्याऽऽवावामा च स तत्सः,
 उच्यते=वर्ष्यते । आत्मना निश्चयेन तु साम्यमेव, किन्तु यत्र यद्ये
 गुणोत्कर्ष, स तदपेक्षया चारतम्येन व्यपदिश्यते । एदेव परम-
 न्स्थानिसद्भावादात्मा परमात्मेत्युच्यते । परेद्ये महादेवम् तस्मात्
 राधेऽप्यसहनो वक्ष्यन्नात्क्रोऽञ्जुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वसम्ब-
 र्हिहादेरप्यमात्, तदुभौ वक्ष्यन्नात्क्रोऽञ्जुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वसम्ब-
 र्हिहादेरप्यमात्, तदुभौ वक्ष्यन्नात्क्रोऽञ्जुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वसम्ब-
 र्हिहादेरप्यमात्, तदुभौ वक्ष्यन्नात्क्रोऽञ्जुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वसम्ब-
 र्हिहादेरप्यमात्, तदुभौ वक्ष्यन्नात्क्रोऽञ्जुराविहन्ता चेति तस्य सत्त्वसम्ब-

यदुक्त " परमात्मा च ब्रह्मात्मा सोऽन्त्यात्मा तथैव वेति ।
 सत विरोधे परिहरतेकस्मात्प्यात्मनोऽवस्थाभेदेन व्यक्तत्वे प्रतिपद
 यत्—

परमात्मा सिद्धिप्राप्ती वाधारमा तु मयान्तरे ।

अन्तरात्मा भवेदेदे इत्येपस्तिपिपा शिवः ॥ १८ ॥

परमात्मेति । मया=मद्युक्ते त्रिमदस्यत्तत्, शिवा=शिवत्
 वाच्य मयान्तरात्मादिमान् त्रिनेत्र इति इत्यम् । सिद्धिप्राप्ती=
 सिद्धिगायन सात्त्विकेन चर्माद्ये सत्यन्तदर्शनादिबुद्धपरिमाण,
 मुक्तिरिति वाप । तस्या प्राप्ती स्वभ सति मुक्ती प्राप्ताया तस्य
 नित्यम् । परमात्मा=वरको गुणे इत्या परं ब्रह्मात्मात्तत्वात्पुण्यो-
 त्तमधाऽऽत्मात्मा च स तत्सः, भवेत्=सुख-सुखान्तरे । ब्रह्मात्तरे

=पूर्वशरीरख्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयो-
रन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्यः स
चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ द्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च
रहितत्वरूपवद्भिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति
भावः । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानाव-
स्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेद्विती-
हाऽपि सम्बध्यते । देहे तिष्ठन् क्षात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति
बोध्यम् । इति=एवमकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाविनेदात्ति-
प्रकार, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यम-
स्यैव युक्तियुक्तम् । ततश्च नाऽतो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम्
॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्यादिकमप्याह—

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।

पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाहम्यते ।

दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकलः सन्, भव-
स्तदादशाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्य-
सिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्णः । अत एव, सकलः=कलामि-
र्भावस्थामाविगुणैः सहितः सकल, सगुण इति यावत् । आत्मा हि
धृतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । दोष-
वर्जितः=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल-

दर्शनज्ञानपारिश्रवद्रावप्रति बोध्यम् । निर्दोष इत्यर्थः । अत एव
 पञ्चदेहनिर्मुक्तः=पञ्च पञ्चसङ्घातय ये देहा शरीराणि औदारिक-
 ऽऽहारकर्मैकित्यप्रसक्तकर्मणास्त्वामि तैः सकलकर्मफलान्मुक्त्यप्राप्त-
 निर्मुक्तो रहितः, मुक्त इति यावत् । नहि मुक्तिं विना सर्वदोष-
 राहित्यमिति बोध्यम् । अत एव च, परमम्=सर्वोत्तमं सर्वोत्तमनिर्णी-
 य पदम्=स्नानम्, सिद्धाधिकृतस्य स्नानमित्यर्थः । मुक्तत्वां तथाञ्-
 स्नानमित्युक्तम् । सम्प्राप्त=अधिष्ठित, स वाहस स्तु, निष्कलः=
 मन्त्रमन्त्रिसर्वदोषरहितत्वात्कर्ममय उक्तमन्त्रराम्ये निरति निष्कलः,
 निर्गुण इत्यर्थः । सर्वदोषनिरोपान्निर्मुक्त आत्मा निष्कले निर्गुण
 इति वा गीयत इति ज्ञेयम् । एवञ्चाजस्र सकलतादिकं मुक्तिमुक्तम् ।
 परेष्टदेवस्य तु मुचयमात्वाद्वाद्मानम् । कर्मन्मवा दारादिपरिष्क-
 लस्य वर्णितः सत्कलेत, मुक्तस्य लययोग्यमिति पारमार्थिकं सकलक-
 दिकं विनस्तैवेति तत्त्वम् ॥ १९ ॥

अतु परेष्टदेवस्य ' एकमूर्तिस्त्रयो भागा अक्षविष्णुमहेश्वरः'
 इति मन्त्रेति, सा त्रिनयितोत्पन्न इत्याह—

एकमूर्तिस्त्रयो भागा अक्षविष्णुमहेश्वराः ।

त एव च पुनरुक्ता ज्ञानपारिश्रवदर्शनात् ॥ २० ॥

एकमूर्तिरिति । एकमूर्तिः=एकाग्रज्ञानाऽद्वितीया वा केवल्य
 वा मूर्तिर्मूर्तिः, एको विनालैवेत्यर्थः । यथा मूर्तिराहतिः, एतन्मैत्र्य
 विनाहतिरेत्यर्थः । अक्षविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा च विष्णुश्च महेश्वरश्च
 ते तत्रास्याः, "ब्रह्माऽऽजमः सुरज्येष्ठ" इति "विष्णुर्भारतश्च ह्यम्"

इति, "शिव शूली महेश्वर" इति चाऽमरः । त्वय = त्रित्वसङ्घा-
 विशिष्टा, भागाः = अंशाः, एको महादेवाऽऽत्मैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्या-
 स्योऽज्ञा इति पौराणिका । ते च भागा जिनात्मन एवेति हृदयम् ।
 ननु नैतत्प्रसिद्ध काप्यागमादाविति चेत्त्राह—ते = ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा-
 स्यो भागा, एव = नत्वन्ये, ज्ञानचारित्रदर्शनात् = ज्ञान केवल ज्ञान
 चारित्र क्षायिक दर्शन केवल दर्शनम्, ततः, तदपेक्ष्येत्यर्थः, यच्छोपे
 पञ्चमी । इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽपि "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवती"ति
 परिभाषणादेकवचनम् । न च समाहारो युज्यते, ते इत्यनेन
 विशकलितव्यक्तित्रयपरामर्शादुद्भूताऽवयवमेदविवक्षया अवगमादिति
 ध्येयम् । च = समुच्चये । पुनरुक्ताः = पुन प्रतिपादिता, भवन्तीति
 शेष । ब्रह्मादिशब्दैरेण भागा उच्यन्ते त एव ज्ञानादिशब्दैरपीत्युक्ता
 अपि पुनरुच्यन्ते । ज्ञानादिरूपा एवाऽर्हतो महादेवात्मनो भागा-
 पर्याया ब्रह्मादयो नाऽन्ये, ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादय एवेहेष्टा इत्यग्रे स्फुटी
 भविष्यति । तस्मादर्हत्वेन त्र्यात्मकः । परेष्टदेवस्य त्रेकस्या मूर्त्तेर्ब्रह्मादि-
 मूर्त्तिर्भागो न युज्यते, एकमूर्त्तीं मूर्त्तित्रयसन्निवेशाऽयोगात्, तदनुपदमे-
 वौपपादयिष्यत इति ध्येयम् ॥ २० ॥

ननु ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादयोऽर्था अपतीता इति चेत्सादृश्यमूल-
 लक्षणयैव तथावर्णनमिति गृहाण । नन्वेव परे तथा न मन्यन्ते,
 किन्त्वेकस्या मूर्त्तेरिव तिस्रो ब्रह्मादयो व्यक्तयो भागा इत्येव तेषामाशय
 इति चेत्, अनुपपद्यमानत्वान्न तत्र रुचिरित्यतोऽनुपपत्तिमुपपाद-
 यन्नाह—

एक्य मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

परस्परं विभिन्नानामेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

एकमूर्तिरिति । मूर्तिः=वेद, एका=असहस्राऽद्वितीया,
 केकला वा "मूर्तिमत्करणकर्ममूर्तयो वेदस्त्वननदेहसधरा" इति ईश्वरः ।
 'एक्रेऽन्याऽर्थे प्रधाने च मन्त्रे कथने च"ति विधे । तत्र
 इत्यर्थमन्त्रम्यते । त्रयः=त्रिसङ्ख्याविस्तिथः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा
 =ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्यास्तिस्रो व्यक्तम्, भागाः=भेदा कश्चित्
 परैरिति शेष । अत्र विमतिपचिमाह—परस्परम्=अन्योन्यम्,
 विभिन्नानाम्=भेदकत्वम् नहि यो ब्रह्मा स एव विष्णु स एव
 महेश्वरो वाऽविभानत्रयत्वारस्यात्प्रलयमेवाय, ततश्च ते परस्परं भिन्न
 एवेति तादृशानां तेषामित्यर्थः । एकमूर्तिः=एकप्रतिष्ठा वा मूर्तिर्देवः,
 स्य कथम्=कन मन्त्रेण, भवेत्=सत्, कथा नैव स्यादित्यर्थः ।
 अमेदे हि मूर्त्तरैक्यं प्रसिद्धम् मयेन्द्रसूक्तयोः । मेदे च विमिषा
 मूर्त्तिर्यथा पैत्रमेक्यो । मेदेऽपि मूर्त्तरैक्ये जगद्विस्तार्युक्तं विवर्षते
 चाऽऽपेक्षेन मेदश्च दुरुपपादः सत् । मूर्त्तिमेदे चाऽमेदत्व इत्य
 पादतेत्युपपन्नपुत्रमिष्येकत्वा व्यक्तेर्जाऽनेक व्यक्तयो मया इति
 युक्तम् । तस्मात्प्रानचारिबर्द्धनादेक्य व्यक्तिययो भागा इत्येव
 अद्वैयमिति भावः ॥ २१ ॥

अन्येषाम्ना एव व्यक्तेऽनानि मानाऽभिधानामि, न तु
 परस्परं विभिन्नानाम् व्यक्त्यो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति पेशत्समप्रस-
 मित्याह—

कार्यं विष्णुः कियं ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।

कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

कार्यमिति । विष्णुः=विष्णुपदवाच्यो देव, कार्यम्=क्रिया-
जन्यफलाश्रय, कार्यस्थानीय इत्यर्थ । क्रियते यदिति कर्मव्युत्पत्तेरिति
चोध्यम् । ब्रह्मा=ब्रह्मपदवाच्यो देव, क्रिया=व्यापारस्थानीय.,
द्वारमिति यावत् । तुर्विशेषे भेदे च । महेश्वरः=महेश्वरपदवाच्यो
देवः, कारणम्=जनकस्थानीय । महेश्वरप्रेरणया ब्रह्मण शरीराद्विष्णोः
श्रादुर्भाव इति पौराणिककथाऽनुसन्धानेनेत्यमुक्तिरिति ध्येयम् ।
तदित्यम्, कार्यकारणसम्पन्ना =कार्यकारणभावमापन्नास्ते ब्रह्मविष्णुमहे-
श्वरास्त्रयः, एकमूर्तिः =अभिन्नतनु, कथं भवेत् ?=काका नैव क्वमपि
भवेदित्यर्थ । नहि पितृपुत्रयोरमित्रा मूर्त्तिरिति कोऽपि सचेत्ताः
प्रतिपादयेत् । मूर्त्त्यभेदे च कार्यकारणभाव एव न स्यात्, तस्य
व्यक्तिभेदनियतत्वात् । एवञ्चैकस्या एव व्यक्तेर्नानाऽभिधानानीति
वाचोयुक्तेरप्यनवसर, एकव्यक्त्यभावात् । तदेव परोक्तदिशैकमूर्त्ति-
रूपो भागा इत्यनुपपन्नमेवेति भाव ॥ २२ ॥

ननु यथा भृत्पिण्डस्यैकस्यैव कारणभूतस्य कपाल- क्रिया-
स्थानीयो घटश्च कार्यस्थानीय इति वक्तुं शक्यम्, तथैकस्या एव व्यक्ते-
रप्यसामेदात्ते त्रयो भागा इति चेत्तदपि नेत्याह—

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।

अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥

महापतिमुत इति । ब्रह्मा=ब्रह्मण्यवाच्यो देवः, प्रजापति
 मुत=महापतिनामो द्विजस्य मुत पुत्रः, “आत्मब्रह्मण्यं मुत मुत
 पुत्र” इत्यमरः । माता=जननी, ब्रह्मण इति साभिष्याप्तीवृत्ते ।
 पद्मावती=तदास्या महापतिद्विजमार्त्या, स्मृता=मतिपाविता, पुराणा
 वासिनि भावः । तथा, जन्मनद्यतम्= यक्षत्रयुक्ते काले जन्मो
 जन्म तद्वत्तमं भम् ‘मक्षत्रमृच्छं मे तारे’ इत्यमरः । अमिजित्=अभि-
 जिज्ञास्यम् । महापतिमार्त्याया पद्मास्या कुक्षेत्रेणाऽवतीर्षणानिति
 पौराणिक इति भावः । तदेवं स्थिते, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ।
 नहि येषां विमित्तौ महापितरौ जन्मकाक्यं मितात्तेऽमित्तमूर्त्तौ
 दृष्टाः स्मृता वा, महापतिमेदे एकस्या एव म्यक्तेः खण्डस्यैव प्रसिद्धत्वात् ।
 किञ्च महापामेकत्वे महापतिमुतो ब्रह्मणोऽवतार इति स्थितेपेव
 व्यपदेशो निर्देष्टुक एव स्यादिति नैकमूर्तिरिति भावः ॥ २३ ॥

मनु त्रिमासिकैव मूर्तिवृत्तिरिति चेत्तदपि नेत्याह—

बभ्रुदेवमुतो विष्णुमाता च देवकी स्मृता ।

रोहिणी जन्मनद्यतमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

बभ्रुदेवेति । विष्णुः=विष्णुवदवाच्यो देवः । बभ्रुदेवमुतः=
 बभ्रुदेवात्मन्युपुत्रः । माता=जननी वाः समुद्यमे । विष्णोरिति मत्वा-
 सत्या इत्यन्ते । देवकी=तदास्या बभ्रुदेवनृपमार्त्या, स्मृता=कथिता,
 जन्मनद्यतम्=अभिषङ्गत्रे जन्म तत् रोहिणी=तदास्याम् । बभ्रुदेवनृप-
 मार्याया देवस्या ‘कुक्षेत्रे विष्णु इत्यनाज्ञाऽवतारः । यदुक्तम्—“एते
 शंभुः कृष्णः पुत्रः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि” इति पौराणिक्यः । एवं

शूलधारकः=शूलस्य तदाख्यशूल-
 तृतीयः=विष्णुः, शङ्खचक्राङ्क =
 तादृशः, एव प्रत्येकमङ्कमेदे सति,
 एकस्या मूर्तेर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
 णाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
 ७ ॥

तैत्त्व समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि

नेत्रोऽथ महेश्वरः ।

ऋमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुखः=चत्वारि चतु सङ्ख्यानि
 =तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्र =त्रीणि
 एक भालस्थमित्येवं यस्य स तादृशः,
 चारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः,
 चतुर्भुजत्वं त्रयाणामेव पुराणादा-
 यमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये
 । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
 भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम्

प्रजापतिस्तुत इति ।

सुत—प्रजापतिनाम्नो द्विकल्प सु-
 पुत्र ” इत्यमरः । माता=ज-
 पद्मावती=तवास्त्र्या प्रजापतिद्वि-
 वासिति माष । तथा, अन्म
 अन्म तद्वत्त्वं मम् ‘नक्षत्रमूर्त्ति
 शिवास्त्रम् । प्रजापतिमार्यामा
 पौराणिक इति भाष्य । तद्वत्
 मद्दि येषां निमित्तौ मत्स्यापित
 इष्टाः अना या मात्रापमेदे एकस्
 क्तिञ्च प्रजापामेकत्वे प्रजापति
 स्वपदेष्टा निर्देष्टुक एव स्यादिति

नमु त्रिभगैकैव मूर्तिमति

पशुदेवस्तुतो विष्णुमाता

रोहिणी अन्मनद्यत्तमेक

स्तुदेवेति । विष्णु =वि

स्तुदेवास्त्रपुत्र माता=जमनी
 सत्या सम्यते । देवद्वी=तवास्त्र
 अन्मनद्यत्तम्=वन्मिद्वत्त्वे अन्म त
 शर्वाभा देवद्वय ‘कुक्षेर्विष्णु कृष्ण
 चांशुश्च पुत्र. कृष्णास्तु भगवान्

मण्डः स एकैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, “ गरुडान्
 ररुडताक्ष्यो धैनतेय खगेश्वर ” इत्यमर । भवेत् । तदेव प्रत्येकं
 वाहनभेदे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्ते देवस्य नित्यं
 विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक
 वाहनमित्यमद् स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात् ।
 जायते च तथैवेति नैकमूर्तिरिति भावः ॥

सम्यति करग्राह्यभेदेन मूर्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्य हस्ते
 यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । अधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
 अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । “ अवज्यो
 हि अधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद ” इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
 भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शूल नित्यं पाणौ यस्य
 स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्श-
 नाख्य चक्रमायुध नित्य पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
 एकमूर्तिः कथं भवेत् ? नह्येकमूर्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तुनि
 प्रतिद्वानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक मुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः,
 तथापि कथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञान पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
 जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्णवादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा
 रम्यादीनि विभिन्नमूर्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

मेवादेकमूर्तिवृत्तानिरेक्षत्वाऽपेक्ष्यैव तादृशोक्तेरिति पुनर्बर्षभेददे-
मूर्तित्वं विपटयन्नाह—

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।

कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

रक्तवर्ण इति । ब्रह्मा, रक्तवर्णः = रक्तो लोहितो वर्णो रूपं
मस्य स तादृश । श्वेतवर्ण इति । “लोहितो रोहिते रक्त”
इत्यमरः । महेश्वरः, श्वेतवर्णः = शुक्लवर्णः, “शुक्लशुभ्रशुन्धित-
निष्ठवश्येतपाप्पुरा” इत्यमरः । भवेत्, पुरात्माद्यौ तथा प्रतिपाद्यना-
वकाशमते इति बोध्यम् । विष्णुः, कृष्णवर्णः = नीलवर्णः, “कृष्णे
नीलमस्तिश्चामकच्छस्यामस्यमेवञ्च” इत्यमरः । एवं प्रत्येकं निमित्त-
वर्णत्वे सति एव मूर्तिः कथं भवेत् ? । नदेकत्वा मूर्तेरिति नववर्णस्य
प्रसिद्धा । एषञ्च वर्णमेवान्मूर्तिभेदो निश्चित एवेत्यतः परोक्ष सर्ववाऽनु-
पपन्नमेवेति भावः ॥ २६ ॥

मन्त्रस्तारभेदाद्वर्णभेदोऽपि सम्भाव्यत एव । वर्णस्य सात्त्विक
कषादिति न तादृशैकमूर्तिस्त्वुच्यते इति युक्तमित्यतश्चिदभेदेनैकमूर्ति-
त्वाऽनुपपत्तिमाह—

अक्षय्वी भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः श्वेतवर्णः ।

तृतीयः श्वेतवर्णः एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

अक्षय्वीति । ब्रह्मा, अक्षय्वी = अक्षे कम्पनाकारि तन्निर्मितं
सूत्रं मास्यमस्तस्य चक्षुषमिति स तादृशोऽक्षय्वी, अक्षय्वी इत्यर्थः ।
द्वितीयः = महेश्वरस्यो देवः, तस्य च पूर्वोक्तोऽपेक्ष्यैव द्वितीयत्वं

कृष्णस्य च तृतीयत्वमित्यवधेयम् । शूलधारकः=शूलस्य तदाख्यशूल-
विशेषस्य धारकः, शूलाङ्ग इत्यर्थः । तृतीयः=विष्णुः, गङ्गाचक्राङ्ग =
शङ्खश्चक्राङ्गौ चिह्ने यस्य स तादृशः, एव प्रत्येकमङ्गभेदे सति,
एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नक्षत्रस्या मूर्त्तिर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
चिह्नभेदाद्भिन्नैव मूर्त्तिर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
परिचयव्यामोहापत्तेश्चेति भावः ॥ २७ ॥

तदेव चिह्नभेदेन विभिन्नमूर्त्तित्वं समर्थं मुख्याद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि
तदुपपादयन्नाह—

चतुर्मुखो भवेद् ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।

चतुर्भुजो भवेद् विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुख इति । ब्रह्मा, चतुर्मुखः=चत्वारि चतुःसङ्ख्यानि
मुखानि यस्य स तादृशः, अथ=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्रः=त्रीणि
त्रित्वविशिष्टानि नेत्राणि द्वे यथावस्थे एक भालस्यमित्येव यस्य स तादृशः,
भवेत्, विष्णुः, चतुर्भुजः=चत्वारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः,
“ भुजवाह प्रवेष्टो दोरि”त्यमरः । चतुर्भुजत्वं त्रयाणामेव पुराणादा-
वुक्तमिति न तावतेह वैलक्षण्य साध्यमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये
सति, एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
बाहुश्चौचित्यात्स्यान्न तु त्रिनेत्रश्चतुर्भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम्
॥ २८ ॥

अन्नदेशमेवापि विभक्तमूर्तित्वमित्याह—

मथुरायाम् छातो ब्रह्मा राक्षसगृहे महेश्वरः ।

द्वारावस्थामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मथुरायामिति । ब्रह्मा, मथुरायाम्=शुवास्मात् नम्यात्, छातः=शक्तीर्षः, महेश्वरः, राक्षसगृहे=शुवास्मै नगरे छात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावस्थाम्=शुवास्मात् नगर्मादि, बभूवुः=अस्य कृष्णस्याऽपि मथुरायामेव अन्न, अरासम्भवपमस्युत्तः पस्मन्तिषा पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावस्थाम् नगरी निर्माय तन्नेवासेत्येवं पुराणादौ प्रवि-
पठितमितीह चिन्मम् । एवं अन्नदेशमेवे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नोक्तस्या एव मूर्तेरनेकदेशे अन्नेति नैकमूर्तिरिति-
श्रमः ॥ २९ ॥

बाहनमेदेनाऽपि मूले भवेत्याह—

इसयानो भवेत्प्रजा वृषयानो महेश्वरः ।

साहस्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

इसयान इति । प्रजा, इसयान =इसस्यशास्त्र मसिद्धः पक्षिरिशोपो नित्यं स एवैक यत्नं बाहनं यत्नं स साहस्यो ईसयाहनः, “यानं दुर्म्यं पत्रं यत्नं यत्नं बाहनपोरणे” इति श्रिय । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो मन्व्यास्म्यो बभूवुः नित्यं यानं यत्नं स साहस्यो वृषयाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । “उवा मद्यो बभूवुः प्रजावमो वृषमो वृष” इत्यमरः । तथा विष्णुः, साहस्ययानः=साहस्यो

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, “ गरुडमान्
गरुडताक्षर्यो वैनतेय खगेश्वर ” इत्यमरः । भवेत् । तदेव प्रत्येकं
वाहनमेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकमूर्त्ते देवस्य नित्य
विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक
वाहनमित्यवद् स्यात्, वाहनमेदेन विवेकेन तत्तदेवग्रहश्च न स्यात् ।
जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यमेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्य हस्ते
यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । “ अवर्ज्यो
हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद ” इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्रं नित्यं पाणौ यस्य
स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्श-
नाख्यं चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? नह्येकमूर्त्ते देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि
प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुमेदो नाऽयुक्तः,
तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्णवादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा
स्पष्टादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेष्यानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

बन्मदेष्वमेदावपि विभिन्नमूर्धित्वमित्याह—

मधुरायाम् जातो ब्रह्मा राजगृहे महेश्वरः ।

द्वारावस्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कर्म भवेत् ? ॥ २९ ॥

मधुरायामिति । ब्रह्मा, मधुरायाम्=उदात्म्यानां नगरीम्, स्वातः=भक्तीर्ष, महेश्वरः, राजगृहे=उदात्म्ये नगरे, जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावस्याम्=उदात्म्यायां नगरीम्, अमूर्त्=अस्त इत्यस्याऽपि मधुरायामेव बन्म, बरासुन्धनूपभस्वस्तः पस्मिन् पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावर्ती नगरीं निर्माय सन्नेवातेत्येषं पुराणादौ पवि-
पविठमितीह भिन्नाम् । एवं बन्मदेष्वमेदे सति, एकमूर्तिः कर्म भवेत् ? । न्येकस्वा एव मूर्त्तरमेकदेशे बन्मेति नैकमूर्त्तरित्वाभि-
प्रत्य ॥ २९ ॥

बाहनभेदेनाऽपि मूढे मेवमाह—

इसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।

वाह्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कर्म भवेत् ? ॥ ३० ॥

इसमान इति । ब्रह्मा, इसयानः=इस्यदात्म्य. 'प्रसिद्ध' पश्चिमिशेषे नित्यं स एवैक यानं बाहनं यत्न स वाह्यो इस्यदाहना, "यानं युज्यं एव वाह्यं बह्यं बाहनभोरणे" इति हैम । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो मन्वात्म्यो बलीकर्तो नित्यं यानं यस्य स वाह्यो वृषबाहन, नवेदिति सम्बध्यते । 'उद्या मद्यो बलीकर्द कपभो वृषभो वृष' इत्यमरः । तथा, विष्णुः, वाह्ययानः=वाह्यो

गण्ड. स एवैकं यान यस्य स तादृशो गण्डवाहन, " गण्डमान्
गण्डजाक्षर्यो वैनतेयः स्वगेश्वर " इत्यमरः । भवेत् । तदेव प्रत्येक
वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नलोकमूर्त्तेर्देवस्य नित्य
विभिन्नवाहनविशिष्टतया स्याति सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक
वाहनमित्यनन्द स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात् ।
जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भाव ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वरः ।

चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

पद्महस्त इति । ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्यं हस्ते
यस्य स तादृशः, पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव,
अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । " अवर्ज्यो
हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद " इति वामनश्चेति बोध्यम् ।
भवेत् । महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदारख्यं शूल नित्यं पाणौ यस्य
स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । विष्णु, चक्रपाणि =चक्र सुदर्श-
नाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः । भवेत् । ततश्च,
एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? नलोकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि
प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः,
तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्,
जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्णवादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधो
स्वप्नादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

अथ अन्तःप्रकृतमेवेन मूर्तिमेवमाह—

कृते चातो मधेद्वसा सेतायां च महेश्वराः ।

विष्णुश्च द्वापरे चात एकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ ३२ ॥

इत्य इति । प्रजा, कृते=इत्युगो, सत्युग इत्यर्थः । प्रविष्ट
युगस्तुष्टयेषु प्रथमे युगे इति यावत् । चातः=व्यक्तीर्ण, भवेत् ।
महेश्वरा, सेतायाम्—तदास्मिं द्वितीये युग इत्यर्थः । चा सत्युग्ये ।
आत इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वापरे=तदास्मिं तृतीये युग इत्यर्थः,
आत, च सत्युग्ये । तदेवं अन्तःप्रकृत्यैकमूर्तिमहत्फन्तरे एकमूर्ति नै
कममपि युज्यते तदाह=एकमूर्तिः कथं भवेदिति । नष्टेकमूर्तेर-
नेक्य कालेषु पुन पुनर्बन्ध ककुमपि योम्यमसम्भवात्, तस्मात्ते इमो मया
नैकमूर्तेः कथमप्युपपद्यन्त इति तन्मिथ्यैव । यत्रयैकस्यैव कैतन्मस्ताऽ-
वतारमेवेन पितादिबन्धकमन्तमेव सम्भवति । तस्मादपि कर्मकार-
रूपता समकालव्यतिजमात्रां च कथमपि नोपपद्यते, एकस्य वेतन्स्यै-
कमिन् काले नानाशरीराऽभिधानविरोधात्कार्यकारणरूपताया भेदे
सत्वेवोपपत्तेरिति नैकमूर्तिः । किञ्च न मूर्तिभेदतोऽपि तन्मूर्ति इति
त्रिभागत्वमेकमूर्तेः रुन्तःप्रकृत्यैकस्यमेवेत्यस्यभिक्तेन ॥ ३२ ॥

तदेवं परेऽदेकस्यैकमूर्तेर्विभागत्वमसम्भवात्तमिति निश्चरेवोपपाद्य,
अमुक्तं 'ज्ञान चारित्रदर्शनादि'नि तद्विशदं निवृत्त्याह—

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तं प्रमा चारित्र्यदृश्यते ।

सम्यक्त्वं तु शिवः प्रोक्तमहन्मूर्तिस्तयातिमहा ॥ ३३ ॥

ज्ञानमिति । ज्ञानम्=सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानं च, सदा=सर्वदा, न तु यदाकदाचिदेव, विष्णुः=विष्णुरित्येवम् । प्रोक्तम्=प्रतिपादितम्, तज्ज्ञैरिति शेषः । व्यापकत्वाद्धि विष्णुरित्युच्यते पालकत्वाच्च । एतद्गुणद्वयं च ज्ञाने, केवलज्ञानस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेन व्यापकत्वात्सकल-कर्मक्षयहेतुतया भवभयात्पालकत्वाच्चेति ज्ञानं विष्णुरिति प्रोक्तम् । तथा, चारित्र्यम्=सर्वसावद्यद्विरिति, ब्रह्मा=ब्रह्मपदवाच्यम्, उच्यते=प्रतिपाद्यते । ब्रह्मा हि ब्रह्मचर्यम्, तदेव च सत्याऽहिंसाऽस्तेयाऽपरि-ग्रहरूपमहाव्रतसर्गमूलम् । ब्रह्मचर्यं विना सत्यादेर्यथायत्पालनाऽसम्भ-वात् । ब्रह्मा च जगत्क्षेत्रेति सर्वजगन्मूलमिति द्वयोर्ब्रह्माणोरैक्यम् । किञ्च चारित्र्यमेव पारमार्थिको ब्रह्मा, सत्यादिगुणाऽऽधानादिना भवक्षय-पूर्वकसिद्धिसर्गमूलत्वात् । इतरस्तु ब्रह्मा भवसर्जक इति भवपरम्परा-वर्धक इति सर्जनधर्मसाधर्म्यादेव तस्य ब्रह्मत्वमिति निकृष्टत्वाद्धेय एवेत्या-शय । एवम्, तुः पुनरर्थे, सम्यक्त्वम्=तत्त्वार्थश्रद्धानात्मक सम्यग्दर्शनम्, शिवः=शिवपदवाच्य, प्रोक्तम्=उपवर्णितम् शिवो हि पुराणादौ जगत्संहारको वर्णित, सम्यक्त्वमपि च कर्मक्षयोपशमहेतु-शुणवृद्धिक्रमेण सर्वकर्मक्षयपूर्वकभवक्षयहेतुश्चेति तदेव परमार्थतः शिव इति नात्पर्यम् । तदेवम्, अर्हन्मूर्तिः=अर्हतस्तीर्थङ्करस्य मूर्तिस्तनुः, “स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनुरित्यमरः । त्रयास्त्रिका=त्रये चारित्र्यज्ञान-दर्शनात्मका ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा आत्मा स्वरूप यस्याः सा तादृशी । केवल-ज्ञानादेरर्हत्येव सत्त्वात्स एवैकमूर्तिस्त्रयो भागा । तदेतत्सुष्टुक्तम् “एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । त एव च पुनरुक्ता ज्ञान-चारित्र्यदर्शनादि”ति । कस्याऽपि देवस्य व्यात्मकत्वस्योक्तप्रकारेणाऽ-

सम्पत्स्य प्रतिपादमाह । तस्मात्पूर्वमेव महादेवो नाज्ज्य इति इत्यत्र
॥ ३३ ॥

यत्तु परेद्यो महादेव श्रित्याषष्टमूर्तिः प्रतिपाद्यते, सोऽष्टमूर्तिः
परमार्थतो गुणाऽष्टकसद्भाषावर्जित्वेत्याह—

धितिवज्रपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्यास्याः ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ ३४ ॥

श्रित्वीति । भगवति=भग ऐश्वर्यादि, षट्सुक्तम् “ ऐश्वर्यस्य सप्त-
मस्य धर्मस्य तपसः त्रिय । शान्तैरात्मस्योभेद यस्यां भग इतीरने”ति ।
सोऽस्याऽष्टीति स मन्तास्तस्मिन्, ईश्वर इत्यर्थः । वीतरागे=कैले
दूरीभूतो राग उपलक्षणत्वाद्भागदेवाद्यो बोधा यतः स तादृशस्तस्मिन् ।
नित्यशुद्धबुद्धयुक्तसत्त्वभाव इत्यर्थः । धितिवज्रपवनहुताशनय-
जमानाऽऽकाशसोमसूर्यास्याः=श्रितिः पृथिवी, अन्नं प्रसिद्धं सत्क्रियं,
पन्नो वायुः हुताशनोऽग्नी भक्षमानो ऋती, आकाशो गगनत्,
सोमश्चन्द्रः सूर्यो रविश्चस्येता ऋषयः अग्निध्यानानि येषां गुणानां ते
तादृशाः शिस्वादिनामान्, ‘आदेशा स्यात्प्रत्ये ऋती । याजको यजमा
नश्चे”ति हैमः इति=उच्यमन्तराः, एते=शित्पादयः, अष्टौ=अष्ट-
सङ्ख्यायां सुगुणाः=विशिष्टधर्माः, विरोपणानीत्यर्थः । गीताः=
वर्णित्वा । परेद्यो महादेवश्च दम्बात्मकश्रित्यादिरूप प्रतिपादित-
तद्वत्पन्तमस्तत्तम् । यदि हि परेद्येदेवस्य श्रित्यादिरूपत्वं स्यात्, तर्हि
स महादेव एव स्यात्श्रित्यादिर्वा न तूमये, अमेदेऽनेकत्वविरोधात् ।
एकस्य विभिन्नानां पदार्थरूपत्वाऽऽत्म्यत्वात् । गुणास्तु विभिन्ना

अप्यनेके एकसिद्धपीति गुणाऽष्टकसद्भावादहर्त्त्रेवाऽष्टमूर्त्तिरिति तात्पर्यम् ।
आर्यावृत्तम् ॥ ३४ ॥

क्षित्यादिगुणान्तिरूपयत्नाह—

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।

निःसङ्गता भवेद्वायु हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

क्षितिरिति । क्षान्तिः=शकौ सत्यामप्यपकारिष्वपि क्षमा,
अपराधादिसहनात्मको गुणविशेष इत्यर्थः । अर्हत इति षष्ठ्यन्त सर्वत्र
अस्तावात्सम्बन्धनीयम् । येत्युद्देश्ये, प्रसन्नता=साकल्येन कर्ममलाऽ-
भावाद्वागादिदोषाऽभावाच्चाऽऽत्मनो निर्विकल्पत्वान्तिरुपाधित्वाच्च निर्मलता,
विशुद्धता स्वच्छता वेत्यर्थः । “प्रसन्नोऽच्छ” इत्यमरः । येति यच्छब्द-
बलतदिति लभ्यते । जलम्=सलिलम्, उच्यते इति सम्बन्धते ।
चोऽन्वाचये । जलमपि निर्मलमिति प्रसन्नता जलतत्त्वमिति भावः ।
तथा, निःसङ्गता=निर्लेपता, वीतरागतेत्यर्थः । वायुः=पवनः, भवेत्=
स्यात् । पवनो ह्यस्निग्धत्वाच्च कुत्राऽपि सन्नति, तथाऽर्हन्नपि वीतरागत्वान्ति-
सङ्ग इति निःसङ्गता वायुतत्त्वमिति बोध्यम् । एवम्, योगः=शुद्ध-
ध्यानम्, हुताशः=अग्नि, यथा हि हुताश इन्धनादिदाहकस्तथा
योगोऽपि सर्वकर्मेन्धनदाहक इति योगोऽग्नितत्त्वम्, उच्यते=प्रतिपाद्यते
॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।

अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

ब्रह्मान इति । आरमा=भईत्सवबोध्यवेति, तपोदानवा-
दिभिः=तपःपठ्याऽष्टममक्षत्रिकम् । कानं दीक्षाप्रदण्डम् धर्मिणा-
नादिकम् । दया निहंतुवत्सर्वभूतानुपेक्षा, सर्वभूतादेशेनाऽईदंते
द्यात्मस्य सर्वसावधविरक्तत्वाद्येतिभावः । आदिन्यु ब्रह्माऽपदिश्यादि-
तै-हृत्वा, यजमानः=यावकः, यज्जानतर । दयादिकमेव हि यथा
यजनम्, हिंसादिषाम् तु दुरिताऽनुबन्धिस्तावदुमत्तास्तावत् कर्मैति
उक्त्यन्यत्रमेवेति भावः । तथा सा=भईत्वात्सा, अनेपकृतात्=
कर्ममन्तेपसापनाऽऽस्तवगुण्यत्वात्कृतत्वाच्चुद्धत्वात् सिद्धिं रिषेत्
छेप्योम्यताया अप्यमावादिनि कर्मकृत्वात्मकरोपाऽशियन्वादिर्त्सं ।
आकाशसद्भावाः=आकाशोपमा, ' निम्सप्राप्तनीकसपनीछशो-
मादय'इत्यमर । अमिधीयते=गमिते । यथाऽऽकाशोऽमूर्तत्वात्मेन्द्र-
दिकेपाऽयोम्यस्तथाऽयममि निर्गुणत्वादिति तस्य स्थितताऽऽकाशतत्त्वमिति
भावः ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिचन्द्रो वीतरागाः समीक्ष्यते ।

ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदिस्त्योऽमिधीयते ॥ ३७ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिरिति । वीतरागाः=रागादिरहितोऽईन्, सौम्य
मूर्तिरुचिः=सौम्या प्रिया मशान्ताऽनुद्वेगकरा मनोशा च मूर्तिरुचिः
धरीरममा मत्स स साहसः सन् यदुक्तम्—“मयां चै परिशुते
व्येत्सामिस्त्रि चन्द्रमा । बहोरप्यामिष इसां वद्यासि परमां
गुदमि'ति । सौम्यं च मधुरं मिमि'ति हैमः । “सुः मगा-
मुचिरि'त्यमर । अत्र एव, चन्द्रः = चन्द्र इव, समीक्ष्यते=अवलोक्ये

कथते । चन्द्रोऽपि हि प्रियदर्शन इति वीतरागस्य सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्र-
 तत्त्वमित्याशयः । तथा, सः=वीतरागः, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञानस्य
 सम्यग्ज्ञानस्य प्रकाशकत्वेनोपदेशादिनोद्बोधकत्वेन, आदित्यः=सूर्य इव,
 अभिधीयते=कीर्त्तयते । सूर्यो हि तमोनाशपूर्वकं जगत्प्रकाशयति,
 तथा वीतरागोऽपि सदुपदेशेनाऽज्ञान विनाश्य सम्यग्ज्ञान प्रकाशयतीति
 ज्ञानप्रकाशकत्वं वीतरागस्य सूर्यतत्त्वम् । यदुक्तम्—“यः परात्मा पर-
 ज्योति, परम परमेष्ठिनाम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तादात्मनन्ति यमि”ति
 भावः । तदेव गुणगुणिनोरभेदनये उक्तप्रकारेण क्षित्याद्यात्मकक्षमाद्यष्ट-
 गुणात्मकत्वादहर्षमूर्ति । परेष्टो महादेवस्तु विभिन्नव्यक्तीनामभेदाऽ-
 सम्भवस्य प्रसुपपादितत्वाच्छत्रुवधादिप्रवृत्ततया क्षमाद्यमात्रनिश्चयाच्च
 शब्दमात्रोऽष्टमूर्तिरिति हृदयम् ॥ ३७ ॥

‘तदेवं गुणतोऽहर्षेव महादेव इति स एव नमस्करणीय
 इत्याह—

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।

अर्हस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्त इति । अर्हत्=वीतरागस्तीर्थङ्कर, सर्वैः सुरा-
 दिभि कृता पूजामर्हतीति स तादृशः । यदुक्तम्—“यस्मादहर्षेति
 पूजामर्हत्वेनोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वा-
 नामि”ति । रागद्वेषविवर्जित=रागेणाऽऽसक्तया द्वेषेणाऽप्रीत्या
 चोपलक्षणत्वान्मोहकपायादिभिश्च विवर्जितो रहितः । यदुक्तम्—“न
 केवलं रागमुक्तं वीतराग ! मनस्तव । वपुःस्थितं रक्तमपि क्षीरधारा-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तः=पुण्यपापविनिर्मुक्तः
 विहितकर्मजन्यै पापैश्च वाङ्मयैर्निषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैश्चुभै-
 त्पर्यः । विनिर्मुक्तो रहितः, शून्य इत्यर्थः । शीतरमत्वात्संज्ञकत्वान्ते-
 क्त्वाऽऽसम्भवात्सहितपारम्भानां क्षयाच्च । बहुक्तम्—“ अक्षरवृत्ति-
 प्रतिना क्षमिना शमवर्तिना । त्वया काममकुञ्चन्त कुटिलं कर्क-
 कष्टकम् ” इति, “ अनन्तकालप्रवृत्तमनन्तमपि सर्वथा । त्वद्ये माञ्ज-
 कर्मकश्चमुन्मुखयति मूढः । ” इति च । न ह्यन्यो देशे शीतरम-
 वारादिपरिमद्भूतिनिप्रहाप्रिसद्भाक्त्विति सर्वकिञ्चिदत्वात्सर्वोपनोर्ध्ववेति
 भावः । स्याद्येतोस्त्वर्थकत्वात्सम्भवे । शिबम्=स्वकर्मभयम्, इन्द्रता
 =अभिलक्षता श्रेयोर्ध्वना बनेनेति मिथ्यात्वम् । तस्य=शीतरमस्य
 निर्मलस्यार्धतः, नमस्कार=प्रणाम उपसङ्ख्यन्तत्वाद्भक्तिस्त्वर्थः ।
 कर्तव्य =विधेयः रागादिमांसु लक्ष्मसिच इति तस्य नमस्कारो
 स्त्वियाम भक्तिर्भवति । बहुक्तम्—‘ भ्रान्तस्तीर्णानि दृष्टस्त्वं मदैकन्ते
 तारकः । सत्त्वाऽङ्गौ विद्योऽसि भापः । तारय तारये ”ति भाव
 ॥ ३८ ॥

उदेवं गुणतो ब्रह्मात्मकत्वं मतिपात्र सख्यतत्त्वात्तत्त्वमाह—

अकारेण मवेद्विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।

हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठध्वन ह्रस्वत्वरेणाऽकाररूपे

“ अहं ” इत्यक्षरघटकेन प्रथमवर्धनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णुस्त्वक-
 मवेत्=त्वात् । अहं इति पदमिति शेषः । विष्णुनापकऽप्युपस्थात्

वकारसत्त्वादहं इतिपदघटकोऽकारः स्वघटितनामलक्षकनामैकदेशवत्
 स्वघटितपदलक्षक इति भवति 'अहं' इति पदमच्युतात्मकम् । अच्यु-
 तश्च विष्णुपर्याय इति सुभूक्त "मकारेण भवेद्विष्णुरिति । " अकारो
 वासुदेव स्यादि "त्येकाक्षरकोपाच्चेति बोध्यम् । एवञ्च "अहं" इति-
 पदं शब्दतो विष्वात्मकमिति समाहितम् । रेफे="अहं" इत्यक्षरघटक-
 रेफे, ब्रह्मा=ब्रह्मवाचको ब्रह्मशब्द, व्यवस्थितः=व्यवस्थया स्थितः ।
 व्यवस्था चाऽवयवेऽवयविन. समवेतत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मशब्दः स्वघटक-
 रेफवृत्ति, स रेफश्च "अहं" इति पदस्यरेफेणाऽनुकृत इत्यनुकार्या-
 ऽनुकारणयोरभेद इत्येव रूपा । यद्वोक्तन्यायेन रेफो रेफघटितब्रह्मपद-
 लक्षक इति रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित इत्युच्यते । एतेन शब्दतो ब्रह्मा-
 लत्व प्रतिपादितमवगन्तव्यम् । तथा, हकारेण="अहं" इतिपद-
 घटकेन महाप्राणेन वणेन, हर = महेश्वरः, प्रोक्तः=प्रतिपादित,
 तदप्रतिपादन चाऽकारेण विष्णुवदेति न विस्मर्तव्यम् । नन्वेवमहंतल्लया-
 लकत्व शब्दत उपपादितमेवेति "अहं" इत्यक्षरे उपरिस्थितस्याऽनु-
 नासिकत्व किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—तस्येति । अहं इतिपदे-
 ऽकारोत्तररेफोत्तरवाचिहकारस्येत्यर्थः । अन्ते=पर्यवसाने, विराम इत्यर्थः ।
 उपरीति यावत् । परमम्=सर्वोच्चत्वाल्युदुर्लभत्वात्सिद्धैरेव प्राप्यत्वाच्च
 सर्वान्तिमम्, पदम्=स्थानम्, ईपत्राभ्याराख्यमित्यर्थः । नहि तत्
 उपरि किञ्चित्पदमिति तत्परममेव पदं भवति । तदाकारश्चाऽर्धचन्द्रा-
 कृतिरनुनासिकरेखातुल्य, बिन्दुश्च तत्स्वसिद्धाऽनुकृतिः । एवञ्चाऽनु-
 नासिको रेखागवयन्यायेन सिद्धशिलाऽनुकृतिरहतो ब्रह्माद्येक्षयाऽप्युच-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तं = पुण्यैतदात्मै
 विहितकर्मजन्यै पापैस्तदात्म्यैर्निर्मुक्तकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैरशुभैश्च
 स्वर्गः । विनिर्मुक्तो रहित, शून्य इत्यर्थः । वीतरागत्वस्तोऽतत्परत्वं
 कथाऽयममवात्सल्यित्प्रारब्धानां क्षयात् । यदुक्तम्— 'अप्यहो
 प्रतिना क्षमिना क्षमवर्तिना । त्वया काममकुञ्चन्त कुटिलं ह
 कष्टका" इति, "अनन्तकामप्रक्तिमनन्तमपि सर्वथा । लजे गज
 कर्मकथमुन्मूल्यति मूलः" इति च । न ह्यन्यो देवो वीतरा
 वारारिपरिमहवैरिनिग्रहारिसद्भावाविति सर्वविशुद्धत्वात्सर्वोत्तमोऽर्जुनो
 मत्तः । तस्मादेतोरित्यर्थकत्वात्तन्मते । शिवम् = स्वप्ननापम्, इ
 = अमिच्छता, ज्ञेयोऽर्जुना अनेनेति सिद्धिर्थात् । सुख = वीतर
 निर्मलस्याऽर्जुनः, नमस्कार = मया उपसृष्टत्वात्शक्तिरित्
 कर्तव्यः = विषेवः, रागादिमास्तु स्वप्नसिद्ध इति तस्य स्वप्न
 सिद्धाय भक्तिर्भवति । यदुक्तम्— "अन्तस्तीर्णानि हृष्टस्वै मयै
 धारकः । तत्त्वाऽहौ विष्णोऽसि भाव ! धारय धारये"ति
 ॥ ३८ ॥

तदेवं गुणतो ब्रह्मात्मन्तं यस्तिपाद्य स्रष्टवत्तत्त्वत्तन्मया

अकारेण भवेद्विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।

इकारेण हरः प्रोक्तस्तस्मादन्तै परमं पदम् ॥ ३९ ॥

अकारेणेति । अकारेण = कष्टशेन हस्तसरेणाऽ =

'अहं' इत्यक्षरपटकेन मन्मथार्थेनेत्यर्थः । विष्णुः = विष्णु

भवेत् = सात् । अहं इति परमिति शेषः । विष्णुवाचकेऽ

किं स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाद्युच्यते । एवञ्च
केवलज्ञानज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानध्वौपा-
पित्वादागन्तुकत्वात्परवर्तीति तदादिभूतज्ञानमकारेण मातृकापाठे-
ऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन=
आदिर्धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः ।
अकारः=अर्हन्निदिपदघटकोऽकार, प्रोच्यते=कीर्त्तयते । सर्वप्रथमं
धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवाच्चाऽर्हत्त्वेत्यादिभूतोऽकारो
लक्ष्यत्वर्हत्त्वघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्स्येव नाऽन्यत्रैति
स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्त्वघटकं रूपं निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । ज्ञानेन=मतिश्रुत्यवव्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः ।
चक्षुषा=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि मूत्
यद्रव्यमणुस्त्वन्यमेदमित्तपुद्गलात्मकद्रव्य तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्य-
धौव्यात्मकसामान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽमिलाप्याऽनमिलाप्यत्व-
मेवामेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादिनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, दृष्ट्वा=ज्ञात्वा,
ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनज्ञानमेवेति बोध्यम् । वा=तथा, अनन्तरमिति
शेषः । लोकम्=चतुर्दशरज्जुप्रमाणनवगाढवर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाश-
प्रदेशात्मकम्, लक्ष्मणया तत्त्वत्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, अलोकम्=
स्येकाद्वद्विर्गुत्तमाकाशम्, वेत्ति=समुच्ये । दृष्टम्=ज्ञातम् । ज्ञानेन

स्थानस्यैव ध्वनति । तादृशपदस्याद्य न प्रसाद्य इत्येवैव शब्देन
इति ह्ययम् । एतेनार्थः शब्दतत्त्वशास्त्रं समाहितम् ॥ १० ॥

अथार्थमिति पदपठकाऽकारमिदं प्रवृत्तिनिमित्तविरमेन ह्य-
र्थास्त्रार्थगौरवं पठ्यते—

अकार आदिघर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेसकः ।

स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

अकार इति । अकारः= अर्थात् पदस्य प्रथमोऽक्षरस्य
घर्म, आदिघर्मस्य= आदिर्मुक्त्य आदौ उपदिष्टत्वाद्योपचारादादि
प्रथमस्य च घर्मा दानशीलतपोमात्ररूप तस्य, बहुषु—“दान
शीलतपोमात्रमेवादानं कर्तुर्विद्यम् । मन्ये युगपदास्म्यहं कर्तुर्विद्योऽयम्
इवानि”ति । मोक्षस्य= सर्वकर्मस्य च मुक्ते, अकारोऽपि रक्षित-
स्वरूपत्वान्मोक्षस्य मुक्तस्य सर्वप्रथममर्थात् शोपदिष्टत्वाद्युपदेसत्वाद्योप-
चारादादित्वा बोध्यम् । अकाराच्चित्तस्य साक्षादिसमुच्चयः, अर्थात् युगादौ
सर्वप्रथममुपदिष्टत्वात् । प्रदेसकः= प्रतिपादक उपदेसकश्च । अकारो
हि मातृकापाठे सर्वादिरिति सोऽर्थात् पदपठक आदिघर्मस्य मोक्षस्य
सकलशास्त्रादीनां साऽऽद्योपदिष्टानां स्वकः । युगादौ अर्थात् प्रथम
माया घर्मे मोक्ष कर्तव्यत्वादािकं शोपदिष्टत्वानिति मातृकापठकान्मकारा-
र्थात् पदपठकेनाऽकारेण स्वयते इति परमार्थः । किञ्च, स्वरूपम्= अस्म-
न्मत्त्वमूत्रम् परमज्ञानम्= केवलात्मकज्ञानरूपम् केवलात्मज्ञानस्य हि
सर्वद्वेषपर्याया विद्या न मत्स्योरेति तदेव परमं ज्ञानम्, तदेव च
निराकारमिति तत्त्वार्थित्वात् तदुक्तमित्येतन्नये आत्मना पारम्य-

षिक स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावात्प्रभ्यते । एवञ्च
केवलं ज्ञान ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपा-
दिकत्वादात्मन्तुक्त्वात्परवर्तीति तदादिभूतं ज्ञानमकारेण मातृकापाठे-
ऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन=
आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः ।
अकारः=अर्हन्निदिपदघटकऽकारः, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं
धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवाक्याऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो
लक्षयत्वर्हत्पदघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति
स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटकं रेफ निरूपयन्नाह—

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

रूपीत्यादि । ज्ञानेन=मतिश्रुत्यवध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः ।
चक्षुषा=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि भूतं
वदद्रव्यमणुस्फन्धमेदमिज्जपुद्गलात्मकं द्रव्यं तस्य यत्स्वरूपमुत्पादयत्य-
प्रौव्यात्मकं समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽमिलाप्याऽनमिलाप्यत्व-
भेदाभेदाद्यन्तर्धर्मात्मकत्वाद्नेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, दृष्ट्वा=ज्ञात्वा,
ज्ञानचक्षुषा हि दर्शनं ज्ञानमेवेति बोध्यम् । वा=तथा, अनन्तरमिति
शेषः । लोकम्=चतुर्वंशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाश-
प्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्त्वत्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, अलोकम्=
स्येकाद्वहिर्भूतमाकाशम्, वेति=समुच्चये । दृष्टम्=जातम् । ज्ञानेन

बहुपेत्सुपज्यते । अत्र च ज्ञानं केवलस्यम्, तस्यै सर्वधर्मसर्व-
परिच्छेदकत्वमिति ध्येयम् । तेन=स्फुटिभ्यस्वरूपदर्शनक्रमेण ध्येय-
ऽभेदवर्धनेन हेतुना, रक्षारः=अर्हत्स्वपदको रेफः, प्रोच्यते
कीर्त्यते । अर्हत्स्वपदको रेफो बुधस्यपुत्रतया रेफपठितरूपिभ्यश्चण-
द्रम्यतत्त्वज्ञानक्रमेणार्हतो लोकखोकज्ञानं व्यनकीति तात्पर्यम् । अर्हति
हि धनमती शानत्रयवैशिष्ट्यम्, वीक्षाम्हाणानन्तरं च ध्येयविश-
वासिर्धर्मक्रमे सति केवलभेदस्यैव सर्वज्ञमित्येवमर्थं रेफो लक्ष्यति ।
वाञ्छो रेव एव गुणविशिष्ट इति यावत् ॥ ४१ ॥

अथाऽर्हत्स्वपदकं हकारं निर्बुद्धि—

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीपहाः ।

हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

हता इति । येन=कल्पकरेण भुक्त्याद्भुतपुण्यशक्तिना, अर्हति
यावत् । रागाः=विषयाऽभिलाषा, अहमभिलेखासक्त्य इत्यर्थः ।
बहुबचनं साकस्मेन रागपरिग्रहार्थम् अर्हति रागलेखस्याऽप्यभावात् ।
एवमभेऽपीति बोध्यम् । द्वेषाः=अनिष्टेष्वपीतय चार्थः=समुच्चये ।
हता=विनाशिता सवन्ना त्यज्य इत्यर्थः । वीतरागो मन्मथ इति
यावत् । बहुकम्— सुखे दुःखे मये मोक्षे यदौदासीन्यमीक्षिते ।
हता वैराम्यमेवेति कुत्र नाऽसि विरागत्वानि 'सि मया मरुत्तरेन्द्र
प्रीत्यस्या नाशोपसृज्यते । यत्र एव रतिर्नान विरक्तत्वं तत्रासि ते' इति
मन् मोहत्रन्वा कल्पामपीश ! समाभिनाभ्यस्वयुगात्रितोऽपी"ति
श्लोः । तथा, अत एव, मोहपरीपहा =मोहा अनात्म्यु देहधनधारा-

आरादिषु ममत्वानि, परीषहाः क्षुत्तृष्णादयो द्वाविंशतिविधाः परीषह-
पदवाच्याश्च, हताः=विनाशिताः, मोहास्त्यक्ता परीषहाश्च सहिता
इत्यर्थः । मोहस्य त्यागः परीषहस्य सहनं च नाशस्तयोरिति बोध्यम् ।
अस्य च न रागद्वेषौ तस्यैव मोहादित्येव इति भावः । तथा, कर्माणि=
शुभाऽशुभात्मकानि सर्वाण्येव पापपुण्याभिधानान्यास्रवजन्यानि कर्माणि,
इतानि=परिष्ठादितानि, यदुक्तम् — “ अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि
सर्वथा । त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः ” इति । तेन=राग-
द्वेषमोहपरीषहकर्महननेन हेतुना, हकारः=अर्हत्पदघटको हकाररूपो
वर्णः, प्रोच्यते=वर्ण्यते । अर्हत्पदघटको हकारोऽर्हतो रागादिहनने
लक्षयति, दारपरिग्रहादिना नाऽन्यो देव ईदृश इति हृदयम् ॥ ४२ ॥

अथाऽर्हन्नितिपदान्तस्य नकार निर्वक्ति —

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णं प्रतिहार्याष्टकेन च ।

ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

सन्तोषेणेति । पुण्यम्=शुभं कर्म, पापम्=अशुभं कर्म, च=
द्वयं समुच्चये । ज्ञात्वा=विवेकेन परिच्छिद्य, इदं पुण्यमिदं पापमित्येवं
विविच्येत्यर्थः । सन्तोषेण=आत्मरत्या, तृष्णोपरमेणेत्यर्थः । उपशमेनेति
यावत् । अभिसम्पूर्णं =सम्भृतं, आत्मरमणात्सर्वथा तुष्टमनोवृत्ति-
रित्यर्थः । असन्तोषात्परिग्रहादिप्रवृत्ते पुण्यपापाऽनुबन्धाद्भवपरम्परात्मक-
दुष्परिणामाऽनुबन्ध इत्यतो विषयविरक्त उपशान्ततृष इति परमार्थः ।
तथा, प्रातिहार्याऽष्टकेन=प्रातिहार्याणां द्वा स्त्र इव समवसरणस्येऽर्हति
नियतस्थितीनां तथाख्यातानां चैत्यपादपच्छत्रदुन्दुभ्यादीनामष्टकेना-

ऽष्टतम्या, उपसृष्टणस्यात्सहजापतिशयेन च, येनाऽमित्यूर्ध्वं इत्यु-
 ज्यते, समन्वित इत्यर्थः । मनुस्मृतम्—“एतां पनत्प्ररकरीं प्रातिशार्पिकीं
 तव । किर्त्तयन्ते न के इष्टा नय । मित्यसृष्टोऽपि ही” इति । तेन-
 पुण्यपापविवेकसन्तोषपतिहार्मापतिशयसञ्ज्ञावन हेतुना, नकारा-
 त्याक्षरकमद्यन्तस्वो नकारस्वो वर्ण प्रोच्यते=प्रक्षिप्यते । अक्षिप्ये-
 तसदपटकां नकाराऽर्द्धत पुण्यपापतत्त्वज्ञत्वं सन्नुद्यत्वं प्रातिशार्प
 ममूत्प्रक्षिप्यभिरामितत्वं च व्यनक्षीति इत्यम् ॥ ४१ ॥

तदेवमुक्तप्रकरेणाऽर्द्धमेव छन्दतोऽर्द्धमे गुणतश्च जिनो भद्रेशो
 न्भादेव एकमुत्तरिष्टमूर्तिभेत्सुपपाद्य “गुणा पूजास्थानं गुणेषु न च
 लिङ्गं न च क्व” इत्युक्त्यनुसारेण स्वस्य तादस्ये व्यञ्जकमुत्तरि-
 ष्ठीर्षुर्वातरागं नमस्करोति—

मन्मथीजाऽङ्कुरजनना दगादयःश्वयसुपगता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णु वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कश्चिन्नाम्नर्षभमीहेमफन्नाभारिभिरपि-

॥ श्रीभादेवस्तोत्रे सम्पूर्णम् ॥

मन्मथीजाङ्कुरजनना इति । यस्य=यादस्य देवस्य, मन्मथीजा
 ङ्कुरजननाः=भवस्य कर्मफलद्वैतकर्मन्मत्तपादेभ्य श्रीजाङ्कुरस्य बीजं
 कारणं तदाभक्तो योऽङ्कुरो बीजप्ररोहस्तस्य बीजं ङ्कुरजननेन
 चर्त्तिकम् बीजाङ्कुरस्तु फलस्ति पुष्पितश्च सन् पुनःपुनर्बीजं फलतीति
 भक्त्यस्यगता इत्यर्थः । चन्मत्त परिभिति चमना हेतुना तादृशा इत्यर्थः,
 गुणाद्याः=राष्ट्रस्योत्कृष्टात्ममनुष्यव चात्तया इति वाक्यं । चात्तया

हि भवपरम्परानिदानकर्मवन्धहेतवः, यदुक्तम्—“ आस्रवो बन्धहेतुः
 स्यादि”ति बोध्यम् । क्षयम्=नाशम्, उपगताः=प्राप्ताः, रतत्रयाऽऽ-
 र्धनादिना भवपरम्पराहेतवो रामाद्या यस्य नष्टा, स तादृश इति
 सारार्थः । ब्रह्मा=तदाख्यो देव, विष्णुः=तदाख्यो देव, हरः=
 तदाख्यो देव, महादेव इति परतीर्थिकप्रसिद्धः । जिनः=वीतरागो-
 ऽर्हन्, सर्वत्र वाकारोऽनास्थायाम् । न व्यक्तिविशेषे आग्रहः, किन्तु
 यो वीतराग, तस्मै=तादृशाय वीतरागाय, नमः=नमस्कारः, अस्तु
 मयेति शेषः । ब्रह्मादीनाञ्चोक्तप्रकारेण दारादिपरिग्रहेण वीतरागत्वाऽ-
 भावज्जिन एव वीतराग इति तस्मा एव नमः । ब्रह्मादयोऽपि चेत्तथा-
 स्तुर्वाहं तस्मा अपि नमः, यतो गुणा पूजास्थानमिति भावः ॥ ४४ ॥

पन्यासकीर्तिचन्द्रेण कृता कीर्तिकलाख्यया ।

व्याख्येयं श्रीमहादेवस्तोत्रसारार्थबोधिनी ॥ १ ॥

वत्सरे वैक्रमे सेय रसेन्दुव्योमलोचने ।

पूर्णा वसन्तपञ्चम्यां महादेवाऽर्हणाऽस्तु मे ॥ २ ॥

पण्णां श्रीहेमचन्द्रेण निर्मितानां पृथङ्गया ।

स्तोत्राणां निर्मिता व्याख्या हिन्द्या चाऽमरभाषया ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशिकाद्वयी पूर्वं वीतरागस्तवस्ततः ।

पुनः सकलाईस्तोत्रं वीरस्तोत्रसमन्वितम् ॥ ४ ॥

तदनु श्रीमहादेवस्तोत्रमेवं क्रमान्मया ।

ख्यातानां निर्मितैवेषां व्याख्या लोकोपयोगिनी ॥ ५ ॥

शाम्यन्तु सन्त उत्सर्गं मत्वेह स्तुतिं यदि ।

मोदतां नीलकण्ठः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ६ ॥

भक्तिरस्तु महादेवे वाचकानां मुनिबला ।

श्रीयास्कीर्तिकला लोकमोदसन्दोहसत्कला ॥ ७ ॥

श्लिष्येण मुनिचन्द्रेण चन्द्रेण मुनिनाजलिपु ।

घापतां पूर्णकामेन विभावत्त ममाश्वने ॥ ८ ॥

गुरवः कस्तूराख्याः धर्मिणा मर्यादसतः ।

कृतकृत्योऽहमिहाऽस्मि धरमं ते वीतरगाय ॥ ९ ॥

इति कर्त्तव्याकृतसर्वश्रीमहादेवस्तोत्रार्चनविरचिते श्रीमहादेवस्तोत्रे
 उपो गच्छाऽपि पति सासन समाह्वयम्भिरिस्मृत्संगे कवीर्षोऽक्षरकवाक्यस
 चार्याचार्यवर्मभूमिद्विजयनेमिधुरीधर पञ्चकडास्- समस्तद्वयान्तमूर्त्त्यार्च-
 नवर्मभूमिद्विजयनेमिधुरीधर पञ्चरसिद्धान्तमहोदधिमाह्वयमिद्विधुरीधर-
 चार्यवर्मभूमिद्विजयनेमिधुरीधर- शिष्य पत्न्याऽर्चनीयैर्विद्वन्निबन्धकामि-
 त्तिरपिठा कर्त्तव्यकलास्त्या व्याख्या समया ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ ह्यमं भवतु ॥

॥ अहम् ॥

॥ पन्यासश्रीकीर्तिकन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकला-
व्याख्यासहितानि पुस्तकानि ॥

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी—(क स श्रीहेम. विरचिताऽयोगव्यवच्छेद-
द्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका च) कीर्तिकला-
संस्कृतव्याख्यासहिता ।
२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
३. श्रीवीतरागस्तवः—क. स. श्रीहेम विरचितः कीर्तिकला-
संस्कृतव्याख्यासहितः ।
४. श्रीवीतरागस्तव —कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितः ।
५. स्तोत्रत्रयी—(क स श्री हेम विरचिता) कीर्तिकलासंस्कृत-
व्याख्यासहिता ।
६. स्तोत्रत्रयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।

प्राप्तिस्थानः

श्री जनकलाल कान्तिबाल ।

लिम्बडीशेरी पेटलाद

बाया - आणद । (गुजरात)

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-हरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने त्रिपण्डितशलाकापुरुषचरित्र नामके महाप्रबन्धका प्रारम्भ करते हुए - उक्त महाप्रबन्धकी निर्विघ्न समाप्ति हो - इस कामनासे मंगलाचरण रूपमें सकलाऽर्हत्स्तोत्रकी रचना की थी । जिसमें चौबीस तीर्थकरोंकी स्तुति करते हुए आदिमें आर्हन्त्य - तीर्थकरत्व - तीर्थकरके असाधारणभाव - तीर्थकरणकी स्तुति करते हैं—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।

भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदधमहे ॥ १ ॥

पदार्थ—सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानम्=सकल - सर्व, अर्हत् - तीर्थ-
कर, प्रतिष्ठा = पूजाके निमित्तमृत । सकलतीर्थकरोंकी पूजाका
हेतुमूढ - जिसके होनेसे तीर्थकर पूजित होते हैं, वह असाधारण

तथा अन्वैष्टिक भाव । अथवा सकल तीर्थंकर प्रतिष्ठान आत्मन ई
 विसंके ऐसा, सकल तीर्थंकरोंमें रहनेवाले, तथा, शिवश्रिया=शिव
 कल्याण मोक्ष, श्री स्वामी समृद्धि, कल्याण या मोक्षसंपदाओंका,
 अभिष्टानम्=प्राप्तिका साधनहोनेसे आभयमृत, तथा, भूर्भुवा-
 स्वर्गपीशानम्=मूर् मागम्बेक, सुवर् मर्त्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक
 इनीनों ओकोंके स्वामीके जैसे सक्रिय, आर्दन्त्यम्=मर्दन्त्य
 तीर्थंकरत्व तीर्थंकरपन तीर्थंकरोंके असाधारण एवं अन्वैष्टिक
 अतिशय तथा कल्पवृक्ष आदि गुणरूप भाव का, प्रणिदम्बरे=प्रतिष्ठान
 मन बधन, तथा शरीरसे तात्काल्यकी साधना करता हूँ - ध्यान
 करता हूँ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—तीर्थंकरोंक सहस्र आदि अतिशय तथा केवलज्ञान
 आदि असाधारण एवं अन्वैष्टिक गुणरूपी भाव, जो उन तीर्थंकरोंकी
 स्वेगोसे की गयी पूजाके एतु हैं तथा शुभसम्पदाओं एवं मुक्ति
 कल्याण प्राप्तिके साधन हैं, तथा स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकोंके स्वामीके
 जैसे सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके स्वामित्वका साधनरूप हैं,
 मैं उन गुणों आर्दन्त्यकर ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यमाहैः पुनस्तत्रिजगन्जनम् ।
 श्रेव क्षले च सर्वस्मिर्दिवः समुपास्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वस्मिन्=सभी, श्रेव=क्षेत्रो स्थानमें, च=तथा,
 क्षले=क्षलामें, तीनों ओपमें तथा तीनों अस्थों में, त्रिजगन्जनम्=

त्रि-तीन, जगत्-लोक, जन-प्राणी, सामान्यरूपसे तीनों लोकोंके प्राणियोंको, नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः=नाम-अक्षय, महावीर आदि नाम, आकृति-तीर्थङ्करोंकी प्रतिमा, द्रव्य-तीर्थङ्कर होनेवाले जीव, नाव-अतिशय, केवलज्ञान आदि भावसे युक्त तीर्थङ्कर, ऋषभ महावीर आदि नामोंसे, प्रतिमा आदि रूपसे, तीर्थङ्करभावरहित ससारी व्यवस्थासे तथा तीर्थङ्कर रूपसे, पुनतः=(सरण, दर्शन, सेवा तथा उपदेश आदिके द्वारा) पवित्र करनेवाले, अर्हतः=अरिहन्तों-तीर्थङ्करोंकी, समुपासहे=उपासना करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सभी क्षेत्रों तथा सभी कालोंमें तीनों लोकोंके प्राणियोंको उनके द्वारा किये गये तीर्थङ्करोंके-नामस्मरण, प्रतिमा आदिके दर्शन, वन्दन, ससारी व्यवस्थामें सेवा, उपदेशोंका श्रवण तथा पालन आदिसे चित्तशुद्धि होनेके कारण-पवित्र करते हैं। मैं उन तीर्थङ्करोंकी भक्तिभावपूर्वक तन, मन तथा वचनसे उपासना करता हूँ। (जिससे दूसरोंके जैसे ही मेरे चित्तकी शुद्धि तथा दृढसिद्धि हो। क्योंकि चित्तशुद्धिके बिना कोईभी शुभकाम सागोपाग पूरा नहीं हो सकता-ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

आदिम पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।

आदिमं तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

पदार्थ—आदिमम्=सर्वप्रथम, पृथिवीनाथम्=पृथिवीके नाथ-ईश-राजा-पालक, राजाओंमें सर्वप्रथम, आदिमम्=सर्व-प्रथम, निष्परिग्रहम्=निष्परिग्रही-ही, पुत्र, राज्य आदि परिग्रहोंसे

रहित सर्वस्वके त्याग करनेवाले, त्यागियोंमें सर्वप्रथम व=वध, आदिमम्=सर्वप्रथम, तीर्थनाथम्=तीर्थहर, तीर्थहरोमें सर्वप्रथम, ऐसे, अथमस्वामिनम्-भीष्मपमनाथकी, स्तुता=मै स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—ओ राजाओं त्यागियों तथा तीर्थहरोमें सर्वप्रथम है, मैं ऐसे भीष्मपमनाथकी स्तुति करता हूँ। (सुगादिमें इन्द्रादि देवोंने ओककी म्पत्ताके लिये भीष्मपमनाथका राज्यागिके किया था। इसलिये पृथिवीमें ये ही सर्वप्रथम राजा हुए थे। तथा अकल्पव्याहारका प्रवर्तन किया था। एवं कन्मते ही तीनों ज्ञानोत्ते पुत्र होनेके कारण तथा श्रेष्ठत्विक देवोंकी मार्गनासे तीर्थप्रवर्तनके लिये सर्वस्वक त्यागकर मोक्षप्राप्तिकी मात्नासे भीष्मपमनाथने ही सर्वप्रथम तीर्थ जीयी तथा कुरुविष धर्मका उपदेश देकर अतुर्विधर्मप तीर्थ का स्थापन किया था। इसलिये सर्वप्रथम तीर्थहर भीष्मपमनाथ ही है—एह ध्यान देने योग्य है) ॥ २ ॥

अहन्तमवितं विश्वकमलाकरमास्करम् ।

अम्लानकेवहाऽऽदृशसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

पदार्थ—विश्वकमलाकरमास्करम्=विश्व जगत्कपी कम-स्कर कमलोंके पाकर-साम-समूह, मास्कर स्व, विश्वकी कमलमूहोके लिये सर्वप्रथम, अम्लानकेवहाऽऽदृशसङ्क्रान्त जगतम्=कम्पन-मन-मन्नि नहीं ऐसा अनि स्वच्छ तिशुद्ध, केवल केवलज्ञान आदर्श धर्म सङ्क्रान्त मनिविधित, गोचर

वगत विश्वके सर्वद्रव्यपर्याय, जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवल-
ज्ञानरूपी दर्पणमें सर्वद्रव्यपर्याय प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत है ऐसे,
अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे
जिनके विशुद्ध केवलज्ञानके सभी पदार्थ विषय हैं—जो केवलज्ञानके
द्वारा सभी पदार्थोंके जाननेवाले—सर्वज्ञ हैं। अर्हन्तम्=अरिहन्त,
तीर्थङ्कर, अजितम्=श्रीअजितस्वामिकी, स्तुत्रे=(मै) स्तुति करता हूँ
॥ ४ ॥

भावार्थ— विश्वरूपी कमलाकरके प्रबोधित करनेमें सूर्यसमान,
अर्थात् जैसे सूर्य कमलसमूहोंको प्रबोधित - विकसित करते हैं, वैसे
ही विश्वके प्रबोधित करनेवाले - विश्वको सन्मार्गाका प्रबोध देनेवाले,
तथा जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सम्पूर्ण विश्व
प्रतिबिम्बित - गोचरीभूत है, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी
पदार्थ स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा जैसे स्वच्छ दर्पण
अत्यन्त स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंके प्रतिबिम्बका ग्रहण करता है, वैसे
ही जिनके विशुद्ध केवलज्ञानमें सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय प्रति-
बिम्बित - गोचर हैं, अथवा जो विशुद्ध केवलज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे
सभी पदार्थोंका ग्रहण करते हैं - सभी पदार्थोंको जानते हैं, अर्थात्
जो सर्वज्ञ हैं, ऐसे तीर्थङ्कर श्री अजितस्वामीकी मैं स्तुति करता हूँ ।
(यथा - जो सर्वज्ञ हैं, तथा सम्पूर्ण विश्वके उपकारक हैं, उनकी
स्तुतिसे ही इष्टलभ हो सकता है—ऐसा ध्वनि है) ॥ ४ ॥

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।

देशनासमये वाचः श्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

पदार्थ — देखनासमये=(सम्बन्धरूपमें) देखना देनेके साथ
 में, ताः=जागनोंने वर्णित, मस्तिष्क, बह, विश्वमध्यवहनाऽऽत्-
 कुस्यातुस्याः=विश्व-वहत्, सभी मन्त्रजन मन्त्रप्राणी मुक्तिनी
 योग्यतावाले आराम-उपवन बगीचा, कुस्या बाड़ी बह
 हृत्स्व-उमान । विश्वके सभी मन्त्रप्राणीरूपी उपवनकी मास्तीके सत्त्व
 भीसम्भवजगत्स्यतेः=बहत्पति बगदीधर तीनों लोकोंके स्वामी
 ऐसे त्रिनेत्र भीसम्भवजनकी वाचाः=वाणी प्रवचन, उपदेश,
 जयन्ति=सर्वोक्त है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वैसे मास्तीके द्वारा सत्त्व सिद्धसे उपवनके
 वृक्ष छा आदिक्र पोषण एवं उसकी वृद्धि होती है वैसे ही देहना-
 समयमें त्रिनेत्री वाणीसे विश्वके सभी मन्त्रात्मा निरुक्तिद्विरूप पोषण
 एवं सम्पगृहण आदिकी वृद्धि प्राप्तकरते हैं, अत एव) देखनासमयमें
 विश्वके सभी मन्त्रप्राणीरूपी उपवनके सिधे मास्ती समान बगत्के
 स्वामी भीसम्भवजनकी वाणी विषय प्राप्तकरती है सर्वोक्त है ।
 (यहां जिससे सम्पगृहण प्राप्तहो तथा जो आत्मकमत्र योग्य करे,
 वही वाणी सर्वोक्त है ऐसा ध्यनि है) ॥ ५ ॥

अनेकान्तमवाग्मोपिसमुद्रासनचन्द्रमा ।

दद्यादमन्दमानन्दं मगरानमिनन्दनः ॥ ६ ॥

पदार्थ — अनेकान्तमवाग्मोपिसमुद्रासनचन्द्रमा।=अने
 कान्त मत मन्त्रेकपदार्थमें अनन्तभर्तृके प्रतिपादन करनेवाली मन्
 सिद्धान्त दर्शन = स्वाहादर्शन अग्मोपि समुद्र, समुद्रासन

उलसितकरना - बढ़ाना - विकसितकरना, चन्द्रमा-चन्द्र । अनेकान्त-
स्वरूपी समुद्रके बढ़ानेमें चन्द्रसमान, भगवान्=भग - ऐश्वर्य, धर्म,
तप, ज्ञान, वैराग्य, अतिशय । सभी प्रकारके सहज आदि अतिशयसे
युक्त, अभिनन्दनः = तीर्थंकर श्रीअभिनन्दनस्वामी, अमन्दम् =
अत्यधिक, अनन्त-शाश्वत एव अखण्ड, आनन्दम् = आनन्द,
देवान्=देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—(जैसे चन्द्र समुद्रके समुल्लास - वृद्धि - भरतीका
कारण है, वैसे तीर्थंकर स्याद्वादसिद्धान्तके समुल्लास - वृद्धि - प्रचारके
कारण हैं, क्योंकि वे ही स्याद्वादसिद्धान्तके उपदेशक हैं । इसलिये)
स्याद्वावरूपी समुद्रके समुल्लास केलिये चन्द्र समान जिनेश्वर श्रीअभि-
नन्दन स्वामी अनन्त, अखण्ड एव शाश्वत आनन्द देवें । (यद्वा -
स्याद्वादके अनुसारी ज्ञानसे ही शाश्वत आनन्दमय मुक्तिका लाभ हो
सकता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि स्याद्वाद ही वस्तुके यथार्थ
स्वरूपका प्रतिपादन करता है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।

भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

पदार्थ— द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः =
द्युसत् - देव, किरीट - मुकुट, शाण - सान, कसौटी, जम - मुख,
सानके ऊपर, उत्तेजित - तेजकिया गया - घसा हुआ, सान चढाया
हुआ, नखावलि - नखके समूह, देवोंके मुकुट रूपी सानपर
घसाकर तीक्ष्ण तथा चमकते हुए नखोंसे विराजित, भगवान्=सर्व

एश्वर्यसे युक्त, सुमतिस्वामी = त्रिनेश्वर भीसुमतिस्वामी, वा = वा
 मन्वोके, अमिमत्तानि = अमीष्ट, तनोतु = सिद्ध करे मनोरथ पूर्ण
 ॥ ७ ॥

मन्वार्थ—(जैसे सानपर बसाकर कृष्ण आदि तीक्ष्ण रोशने
 हैं, तथा चमकने लगते हैं, तथैपत्तर साक्षिभ्यः मन्विके कृष्ण
 पौर्णमे मुकुटका स्पर्शश्च इतप्रकार देवोसे प्रणाम क्रिये जानेके
 कारण मुकुटासे बसाकर त्रिनेके पौर्णोके नस तीक्ष्ण हो गये
 तथा अधिक चमकने लगे हैं। इसलिये) देवोके मुकुटरूपी सनपर
 बसाकर तीक्ष्ण एवं चमकते नसबाले भगवान् भीसुमतिस्वामी वा
 मन्वोके मनोरथोको पूर्णकरे। (यहां जो देवोसे संनित होनेके
 कारण देवाधिदेव हैं, वही मनोरथ पूरा कर सकते हैं - ४
 पक्षि है) ॥ ७ ॥

पद्मप्रमप्रभो देहमासः पुण्यन्तु वा भियम् ।

अन्तरङ्गाऽरिमयने क्षोपाऽऽटोपादिबाऽश्रुयाः ॥ ८ ॥

पदार्थ—पद्मप्रमप्रभोः = त्रिनेश्वरभीष्मपम प्रभु - स्वामीश्वर,
 अन्तरङ्गाऽरिमयने = अन्तरङ्ग अन्तरात्माके महित्करनेके कारण
 अन्तरंग आत्मसम्बन्धी, अरि सत्रु कर्म कषाय व्याधिके, मन्व
 बाह्यकरनेके समर्थ, क्षोपाऽऽटोपादिबाः = क्षोप श्लेषके बाटोय
 आवेष्टसे इन जैसे अश्रुयाः = कर्मकर्मके समस्त कर्म, देहमासः =
 देहशी मास अतिशयकान्ति बा = पाप मन्वोकी, भियम् = सृष्टिभ्यो,
 पुण्यन्तु = पोषे बढाये ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे शुद्ध आदिमें अपने शत्रुओंके नाशकरनेके समय लोगोंके मुख, आँख आदि अग क्रोधसे लाल होजाते हैं, वैसे ही कर्म, कर्माय आदि अन्तरंग शत्रुओंके नाशकरनेमें जैसे क्रोधसे लाल हो गयीं हो, इस प्रकारकी श्रीपद्मप्रभुस्वामीके देहकी लाल कान्ति वाप भक्त्योंकी सुखसमृद्धि बढ़ाये । यहा - श्रीपद्मप्रभुस्वामी अन्तरंग शत्रुओंके नाशकरनेवाले हैं, तथा उनके शरीरकी कान्ति लाल है । अतिये स्वयं श्रीसम्पन्न तथा निर्दोष होनेके कारण लोगोंके श्रीके पोषक हैं - यह स्पष्टार्थ है ॥ ८ ॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।

नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

पदार्थ—चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते=चतुर्वर्ण - चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका - इन चारोंका) सङ्घ - सङ्घ-रूपीगगन - आकाश, आभोग - विस्तार - विस्तृतगगनमडल, भास्वत् - सूर्य, चतुर्विध सबरूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान, तथा, महेन्द्रमहिताऽङ्घ्रये=महेन्द्र - देव, असुर तथा नरोंके इन्द्र, महित - पूजित, अङ्घ्रि - पाँव, सुरेन्द्र आदिसे पूजित चरणवाले, श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय=जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वनाथको, नमः=धेरा नमस्कार हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—(जैसे विशाल गगन मडलमें सूर्य-अप्रतिम तेजस्वी, विश्वप्रकाशक तथा लोकहितकारक हैं । उस प्रकार ही विशाल-चतुर्विधसधमें जिनेश्वर अप्रतिमतेजस्वी, सदुपदेशके द्वारा विश्वके प्रकाशक तथा अहिंसा आदिके द्वारा विश्वके हितकारकभी हैं ।

इसकिये इन्द्रमी उनके चरणोंकी पूजा करते हैं। इसकिये शुद्धि
सहस्रपी विसृतगानके सूर्यसमान तथा महेन्द्रा सुरेन्द्र महेन्द्र
उषा नरेन्द्रोसे पूजित चरणवाले जिनेश्वरभीसुपार्थमुक्ते मेरा मतस्वा
म्याम हो। (जो लोगों केकिये सूर्यसमान तथा विश्वक्य हो, उक्त
प्रणाम करना ही चाहिये — यह भाव है) ॥ ९ ॥

चन्द्रप्रमप्रभोचन्द्रमरीचिनिघयोञ्ज्वला ।

मूर्ति मूर्त्तिसितध्याननिर्मितेव त्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

पदार्थ — चन्द्रप्रमप्रभोः = श्रीचन्द्रप्रमप्रभु स्वामीधि, मूर्त्त-
सितध्याननिर्मिता इव = मूर्त्त पृथिवी भातिके जैसे रूप, रस ज्ञान
गुणोंसे शुद्ध, सितध्यान शुद्धध्यान, निर्मित बनायी गयी, इव
जैसे, जैसे मूर्त्त ऐसे शुद्धध्यानसे बनायी गयी हा इस प्रकारकी,
तथा चन्द्रमरीचिनिघयोञ्ज्वला = चन्द्र, मरीचि किरण निघ्न राशि,
पुञ्ज, उज्ज्वल चन्द्रकी किरणके पुञ्जेके समान चमकती, मूर्त्तिः =
शरीर विष्णु वः = आपनम्योंकी, त्रिये = सुलसमृद्धि केकिये, अस्तु =
हो, सुलसमृद्धि देवे ॥ १० ॥

भावार्थ — जैसे मूर्त्त ऐसे शुद्धध्यानसे बनायी गयी हो इस
प्रकारसे सर्वथा निर्वोप एव पवित्र तथा चन्द्रके किरणपुञ्जोंके समान
चमकती जिनेश्वरभीचन्द्रप्रमप्रभोकी मूर्त्ति आप मय्योंकी सुलसमृद्धि
करवे। (मनोहर निदाव तथा पवित्र पदार्थ ही स्वर्ग भीसम्पन्न
होनेके कारण वृद्धेकी भीसम्पदा बढाते हैं यह वास्तव है) ॥ १ ॥

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।

अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिबोधयेऽस्तु वः ॥११॥

पदार्थ—केवलश्रिया=केवल - केवलज्ञान, श्री - माहात्म्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; शक्ति, केवलज्ञानकी महिमासे, विश्वम्=लोकालोक को, करामलकवत्=कर - हाथ, आमलक - आँवला, वत् - समान, हाथके आँवलेके जैसे, कलयन्=जानते हुए - जाननेवाले, अत एव, अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः=अचिन्त्य-कल्पनातीत, माहात्म्य महिमा, निधि-खान, कल्पनातीतमहिमाकी खानसमान, सुविधिः=जिनेश्वर श्रीसुविधिनाथ, वः=आप भव्योंके, बोधये=सम्यग्ज्ञानके लिये, अस्तु=हो । ज्ञानप्रद हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे किसीको अपने हाथमें रहेहुए आँवलेका स्पष्ट ज्ञान होता है, उस प्रकारही जो केवलज्ञानकी महिमासे विश्व के समस्तद्रव्य तथा उनके पर्यायोंको जानते हैं, अर्थात् विश्वको करामलकवत् साक्षात् देखते हैं, ऐसे कल्पनातीत महिमाकी खान-समान जिनेश्वर श्रीसुविधिस्वामी आप भव्योंके ज्ञानप्रद हों । (यहां-जो विश्वका ज्ञाता है, वही यथार्थज्ञान दे सकता है - यह आशय है) ॥ ११ ॥

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोज्जेदनवाऽम्बुदः ।

स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलःपातु वो जिनः ॥ १२ ॥

पदार्थ—स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी=स्याद्वाद - अनेकान्तवाद, अमृत=अमृत, पानी, नि स्यन्दी=सींचनेवाले, बरसनेवाले, उपदेशक

दुःखोंसे पीडित प्राणियोंके लिये । अगदङ्कारदर्शनः=अगदङ्कार-वैद्य, दर्शन-देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले । अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं - ऐसे । तथा, निःश्रेयसश्रीरमणः=नि श्रेयस - मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले. मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले - सच्चिदानन्द-मय - सिद्धस्वरूप, श्रेयांसः=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, यः=आप मन्व्योंके, श्रेयसे=कल्याणके लिये, अस्तु=हों, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एवं उसकी पीडाको दवा आदिके मयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं । इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों - अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों - से पीडित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादानामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी - रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है । अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है । तथा जो मुक्तिके अनन्त, अखड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले - मुक्त - सिद्धात्मा हैं । ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप मन्व्योंके कल्याणकारक हों । अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

स्वादादरूपी अमृतसमान ब्रह्मके सीबनेवाले—वरसनेवाले, उपदेष्टक, अत एव, सञ्चानाम्=प्राणियोंक, परमानन्दकन्दोद्भेदनवाञ्छुरा =परम सर्वोत्तम, आनन्द सुख, मोक्षसुख, कन्द कन्दरूप, उद्भेद-भङ्गुराणा, प्रकटकरना, मय महीन, अर्ध, सर्वोत्तम, अमृत वायुल । सर्वोत्तम आनन्दरूपी कन्दके अङ्कुरित-प्रकटकरनेमें महीन (भाषाप्रमासके) ब्रह्मके समान जिनः=जिनेश्वर, श्रीसहा=श्री श्रीसहस्वामी, वाः=आप मम्योक्त, पातु=मज्जान, दुःख भावसे रक्षण करें ॥ १२ ॥

पदार्थ—(वैसे महीन ब्रह्म पानी बरसाकर पृथिवीमें रहे हुए कन्दोंमें अङ्कुर उत्पन्नकरता है, वैसे ही जिनेश्वर अमृतके समान अमरत्वक देनेवाले स्वादादवर्षनका उपदेष्ट कर मोक्षसुखक मार्ग प्रकट कर देते हैं । इसलिये) अमृतकेरूप स्वदादरूपी पानीके सिंचन-उपदेष्टकरनेवाले मोक्षसुखरूपी कन्दके अङ्कुर मार्गके प्रकटकरनेमें महीन (भाषाप्रमासके) ब्रह्मके समान जिनेश्वर श्रीसहस्वामी आप मम्योक्त ममसे रक्षण करें । (महां तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है वह स्वदादके सिंचन दुष्टता नहीं है । तथा उसके उपदेष्टक जिनेश्वर ही है यह मत्व है) ॥ १२ ॥

मधुरोगाऽऽर्चयन्तूनामगदह्वारवर्धनः ।

निःश्रेयसधीरमजः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वाः ॥ १३ ॥

पदार्थ—मधुरोगाऽऽर्चयन्तूनाम्=मधु संसार रोग दुःख, व्याधि, धार्ष्ट पीडित, अन्तु प्राणी । मधुके दुःखों अथवा मधुरूपी

दृष्टोसे पीडित प्राणियोंके लिये । अगदङ्कारदर्शनः=अगदङ्कार-वैद्य,
दर्शन-देखना, देखना अथवा स्थाव्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान
दर्शनवाले । अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके
सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये हैं-ऐसे । तथा,
निःश्रेयसश्रीरमणः=निःश्रेयस-मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, संपृद्धि, रमण-
उपभोगकरनेवाले, मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले-सच्चिदानन्द-
भव-सिद्धस्वरूप, श्रेयांसः=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, वः=आप
मन्त्रोंके, श्रेयसे=कल्याणके लिये, अस्तु=हो, कल्याणमद हो
॥ १३ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एव उसकी पीडाको दवा आदिके
प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने
दर्शनसे तथा स्थाव्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं । इसलिये)
भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाक्विक, मानसिक-इन
त्रिविधतापों-अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों-से पीडित जनता
के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे
सात्त्विक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय
बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्थाव्वादिनामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी
या भवरूपी-रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है । अर्थात्
जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है । तथा
जो मुक्तिके अनन्त, अलङ्घ्य तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले-
मुक्त-सिद्धात्मा हैं । ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप मन्त्रोंके
कल्याणकारक हों । अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

तथा उपदेशसे मनुष्यःसौसे छुटकारा प्ये । (यहाँ जो स्वयं मुक्त है, तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशक हैं, वही मुक्ति दे सकते हैं यह भी है) ॥ ११ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकुत्सकर्मनिर्मितिः ।

सुरासुरनरैःपूज्यो वासुपूज्यःपुनातु वा ॥ १४ ॥

पदार्थ — विश्वोपकारकीभूततीर्थकुत्सकर्मनिर्मितिः = विश्व-
तीनों लोकोंके प्राणी, उपकारकीभूत उपकारक, तीर्थकुत्स तीर्थहर,
कर्म धामकर्म निर्मिति निर्माण उपार्जन तीनों लोकोंके उपकारक
ऐसे तीर्थहर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले अत एव, सुरासुरनरैः
= देव असुर तथा मनुष्योंसे, पूज्यः=पूजित, वासुपूज्यः=विश्वेश्वर
श्रीवासुपूज्यनाथ, वा=वास मन्मोंको पुनातु=पवित्र करे ॥ १४ ॥

भावार्थ — जिन्होंने तीर्थहरनामकर्मका—उसके धाम से सम्पर्ककर उपदेश देकर तीनों लोकोंके उपकारके सिद्धे उपार्जन किया है ऐसे, सुर, असुर तथा मनुष्योंके पूज्य विश्वेश्वर श्रीवासुपूज्यनाथ वासु मन्मोंके (दर्शन, उपदेश आदिकेद्वारा) पवित्र करें । (यहाँ तीर्थहर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले ही विश्वके उपकारक तथा विश्व पूज्य हो सकते हैं । तथा उनके दर्शन एवं उपदेशसे ही आत्मा पवित्र होती है यह भी है) ॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कवकसोदसोदराः ।

अयन्ति सिजगद्यतोवसनेर्मन्यदेववाः ॥ १५ ॥

पदार्थ—विमलस्वामिनः=जिनेश्वर श्रीविमलनाथकी, कतक-
 क्षोदसोदराः=कतक - कतकनामके वृक्षके फल, क्षोद - चूर्ण, सोदर-
 समान । कतकके चूर्णके समान, त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः=
 त्रिजगत् - तीनों लोक, चेतस् - मन, जल, नैर्मल्य-निर्मलता शुद्धि,
 हेतु - कारण, करनेवाले । तीनों लोकोके प्राणियोंके चित्तरूपी जल
 को शुद्ध करनेवाली, वाचाः=उपदेशवाणी, प्रवचन, जयन्ति=सभी
 अन्य प्राणियोंसे अधिक महत्त्वकी है ॥ १५ ॥

भावार्थ—(जैसे कतकके चूर्ण ढालनेसे पानी स्वच्छ हो जाता
 है, उसप्रकार ही जिनेश्वरकी वाणीसे चित्तशुद्धि होती है - चित्तके
 सारे दोष दूर हो जाते हैं । उसलिये) जिनेश्वर श्रीविमलस्वामीकी,
 कतकके चूर्णके समान तीनों लोकोके प्राणियोंके चित्तरूपी जलको
 शुद्ध करनेवाली वाणी-उपदेश अन्य सभी प्राणियोंसे अधिक महत्त्व-
 वाली है । (यहा-जो वाणी चित्तशुद्धिमें सहायक हो, वही सर्वश्रेष्ठ
 है- ऐसा भाव है) ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।

अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—अनन्तजित्=जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्स्वामी, स्वयम्भू-
 रमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा=स्वयम्भूरमण - स्वयम्भूरमण नामके
 अन्तिमसमुद्र, स्पर्धि - स्पर्धा करनेवाले - होड़ करनेवाले, करुणारस -
 करुणारूपी रस, वारि - पानी, अत्यधिक होनेके कारण स्वयम्भूरमण
 नामके अन्तिम एव अन्य सभी सागरोसे विशाल समुद्रके साथ भी

होइ करनेवाले कल्पारसस्त्री कहते, वा=माय मन्त्रोक्त, अनन्त
 =शाश्वत, अलंङ तथा अनन्त, सुखभियम्=सुखसम्पदा, प्रपञ्च
 =देवे । अथवा कल्पारमपरिणा=कल्पारसस्त्री कहते, त्वयम्-
 रमणस्पर्धी=स्वयम्भूगम्यनामक सागरके साधनी होइ करनेवाले,
 अनन्तचित्तस्वामी-इसप्रकारसे श्री परार्थ सम्भव है । किन्तु इसप्रकार
 के अर्थके लिये 'स्वयम्भूरमणस्पर्धी' इसप्रकार दीर्घ इच्छान्त एव
 समझना चाहिये ॥ १६ ॥

मोक्षार्थ—जिनेश्वर श्रीअनन्तचित्तमात्र, स्वयम्भूरमणवत्के
 समुद्रके रस ब्रह्मसेमी अथिष्ठ कल्पारस्त्री रससे-मसीमन्त्रासे ब्रह्म
 मन्त्रोक्तो अनन्त सुखसम्पदा देवे । (यहाँ जिनेश्वर असीमकल्पार
 हैं तथा कल्पसे अथिष्ठ नामासे जान दिया जाता है, एव अनन्त
 चित्तके लिये अनन्तसुखस्त्रीका नाम योम्म ही है यह नाम है ।)
 अथवा-अपनी कल्पारस्त्री रसके द्वारा स्वयम्भूरमण समुद्रके भी ब्रह्मने
 जाने जिनेश्वर श्रीअनन्तचित्तस्वामी आप मन्त्रोक्तो अनन्तसुखसम्पदा
 देवे । यहाँ मसीमन्त्रयात् तथा अनन्तचित्तके लिये अनन्तसुख
 सम्पदाका नाम ही योम्म है यह तथा उपपुच्छ मत है) ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसंघर्षाणमिष्टमासौ चरुपरिणाम् ।

चतुर्धाधर्मदेष्टार धर्मनाथसुभासहे ॥ १७ ॥

परार्थ—शरीरिणाम्=प्राणियोंकी इष्टमासौ=अभिहितकी
 प्राप्तिसे मनोरथ पूर्णकरनेमें कल्पद्रुमसंघर्षाणम्=कल्पद्रुम संघ-
 र्ष, सुदर्भा समान कल्पद्रुमसमान, तथा, चतुर्धाधर्मदेष्टार=

तुर्धा - चार प्रकारके, धर्म, देखा - उपदेश करनेवाले, दान, शील,
 तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले, धर्म-
 प्रभू=जिनेश्वर श्रीधर्मनाथस्वामीकी, उपासहे=मै उपासना - भक्ति
 का है ॥ १७ ॥

भावार्थ—(जैसे कल्पवृक्ष सभी मनोरथ पूरा करता है, वैसे
 ही जिनेश्वर प्राणियोंके सभी इष्ट - मुक्ति आदि देते हैं। इसलिये)
 प्राणियोंके मनोरथ पूराकरनेमें कल्पवृक्षसमान तथा दान, शील, तप
 तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जिनेश्वर
 श्रीधर्मनाथकी मै उपासना करता हू। (यहां - धर्मसे ही इष्ट मुक्ति
 आदिकी प्राप्ति होती है। इसलिये धर्मके उपदेश करनेवालेकी ही
 इष्ट - सिद्धिके लिये उपासना करनीचाहिये - यह भाव है) ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।

सृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

पदार्थ—सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः=सुधा-
 अमृत, सोदर - तुल्य, वाग् - वाणी, ज्योत्स्ना - चन्द्रिका, किरण,
 प्रकाश, निर्मलीकृत - प्रकाशित, पवित्रीकृत, दिक् - दिशा, मुख - अन्त,
 अमृततुल्य वाणी रूपीकिरणोंसे प्रकाशित किया है - पवित्र किया है
 दिग्न्त जिसने - अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिग्न्तको प्रकाशित-
 पवित्रकरनेवाले, सृगलक्ष्मा=भृगु - हरिण, लक्ष्म - लालन, सृगलालन-
 वाले - चन्द्र, शान्तिनाथजिन, शान्तिनाथजिनः=जिनेश्वर श्रीशान्ति-
 नाथ, वः=आप भक्त्योंके, तमःशान्त्यै=तम - अज्ञान, अव्यकार,

छान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्वकारक नाशके लिये, अस्तु=है
॥ १८ ॥

मातार्थ—(वैसे मृगश्रंखनवाले पन्त्र अपनी अमृतत्वस्वतियों से विगन्तपर्यन्त पक्षत्र फैलकर अन्वकारक मासकर देव है, वैसे मृगश्रंखनवाले जिनेश्वर भीशान्तिनाश अपनी अमृतत्वस्व स्वतियों सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृतत्वस्व बाणीरूपी किन्जोसे विगन्तके प्रकथित अन्ववाले तथा मृगश्रंखनवाले जिनेश्वर भीशान्तिनाश आप मन्थोंके अन्वकारक नाशकरें। (यहाँ जिनेश्वरकी बाणी अज्ञाननाश है यह स्वनि है) ॥ १८ ॥

भीरुन्पुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयदिमिः ।

सुरासुरान्नाथानामकनाथोऽस्तु वा धिये ॥ १९ ॥

परार्थ—अतिशयदिमिः=अतिशय मसिद्ध अतिशय, सद्गुरु । कर्मक्षयत्र देवकृत प्रातिहार्ये) अग्नि सशक्ति प्रचुरता अभिज्ञ, सद्गुरु अग्नि मन्दिताकी सशक्तिये, सनाथः=युक्त निराश्रितः इसलिये सुरासुरान्नाथानाम्=सुर असुर, मृ मनुष्य तथा उनके नाथ स्वामी इद्राक एकनाथः=एक परमात्र नाथ स्वामी सर्वभेद्योगी भगवान्=महीमगीय तथा प्रचुर धर्म ज्ञान अद्विष्टे युक्त भीरुपुनाथः=जिनेश्वर भीरुन्पुनाथ, वा=आप मन्थाकी धिये=गुणमन्थराके लिये अस्तु=है। अन्वकारक देवे ॥ १९ ॥

भावार्थ—सहज, कर्मक्षयजन्य, देवकृत तथा प्रातिहार्य - इन शक्तिद तथा प्रचुर अतिशयोक्ते विराजित, देव, असुर, मनुष्य तथा देवेन्द्र आदिकेभी एकमात्र स्वामी (देवाधिदेव) भगवान् जिनेश्वर श्रीकुन्दु-नाथ आप भक्त्योंकी सुखसम्पदा बढ़ायें । (यहा - जो ऐश्वर्यशाली है, वही सभीका स्वामी होता है, तथा किसीको ऐश्वर्य देता है—यह सब है) ॥ १९ ॥

अरनाथः स भगवांश्चतुर्थारनभोरविः ।

चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥

पदार्थ—चतुर्थारनभोरविः=चतुर्थ - चौथा, अर - द्वादशार-कलचक्रका दु पमसुपमानामका भाग, नम-आकाशमंडल, रवि-सूर्य, चौथा अर रूपी गगनमंडलके सूर्य, भगवान्=प्रचुर तथा प्रशंसनीय ऐश्वर्य, ज्ञान आदिसे युक्त, सः=प्रसिद्ध, अरनाथ =जिनेश्वर श्रीअरनाथ, व=आप भक्त्योंका, चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्=चतुर्थ, पुरुषार्थ-मोक्ष, श्री-साधनसम्पदा, विलास - शोभा, चौथे पुरुषार्थ-मोक्षके (ज्ञान, चास्त्र आदि) साधनोंकी शोभा, वितनोतु=करें - बढ़ायें ॥ २० ॥

भावार्थ—(जैसे सूर्य गगनमंडलमें सब ग्रहों नक्षत्रोंसे अधिक प्रकाशवान - ऐश्वर्यशाली है, तथा अपनी किरणोंसे सभी पदार्थोंकी श्रीवृद्धि करता है । उस प्रकार ही चौथे दु पमसुपमा अरमें जिनेश्वर तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षमार्गके प्रदर्शक होनेसे उसकी श्रीवृद्धि करते हैं । इसलिये —) चौथे अर रूपी गगनमंडलके सूर्यरूपीभगवान् श्रीअरनाथ आप भक्त्योंकी (धर्म - अर्थ-काम मोक्ष - इन

ज्ञान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशक त्रिमे, अस्तु=हो
॥ १८ ॥

मावार्थ—(वैसे सृष्टांछनवाले चन्द्र अपनी अमृततुल्यतिये
से विगन्तपर्यन्त पञ्चदश फलाकर अन्धकारका नाशकर देता है,
वैसे सृष्टांछनवाले त्रिनेश्वर श्रीज्ञान्तिनाथ अपनी अमृततुल्य त्रिमे
समी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं।
इसलिये) अमृततुल्य बाणीरूपी त्रिनेश्वरसे विगन्तके प्रकथित करने
वाले तथा सृष्टांछनवाले त्रिनेश्वर श्रीज्ञान्तिनाथ आप मन्मोके अज्ञान-
रूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहाँ त्रिनेश्वरकी बाणी अज्ञानरूपका
है यह ध्यान रहे) ॥ १८ ॥

श्रीऋग्यजुर्नाथो भगवान् सनाथोऽतिशयद्विभिः ।

सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु यः भिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिशयद्विभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, सदा

१ कर्मक्षयत्र देवदत्त मातिहर्म्य) अग्नि समृद्धि प्रचुरता अविच्छेद,
सदा अतिशयोक्ती स्मृतिसे सनाथः=युक्त विराक्ति,
इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर, असुर, मृ-मनुष्य तथा उनके
नाथ स्वामी इत्यांक, एकनाथः=एक एकमात्र मात्र स्वामी
सर्वभेदरहित भगवान्=परमेश्वरीय तथा प्रचुर धर्म शक्त अतिशये
युक्त श्रीऋग्यजुर्नाथः=त्रिनेश्वर श्रीऋग्यजुर्माथ, यः=आप मन्मोकी,
भिये=सुखसम्पदाके लिये, अस्तु=हो। सुखसम्पदा देवे ॥ १९ ॥

। हे तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है)
२१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्युपसमयोपमम् ।

शुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—जगन्महामोहनिद्राप्रत्युपसमयोपमम् = जगत् ससार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्युप - उपाकाल-समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्राणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उपाकालके समान, शुनिसुव्रतनाथस्य = जिनेश्वर श्रीशुनिसुव्रतनाथकी, देशनावचनम् = उपदेशवाणीकी, स्तुमः = स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रातःकालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रातःकाल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेश वाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं । [सल्लिखे—] संसारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीशुनिसुव्रतनाथकी देशनावचनीकी स्तुति करते हैं । (यहां-ज्ञानप्रद वाणी ही प्रवासनीय है, अतः उसके अन्त महान् आत्मा है - वह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

उठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिष्णवा इव नमेः पान्तु पादनखांऽश्वः ॥ २३ ॥

पदार्थ—नमताम् = प्रणामकरनेवालोंके, मूर्ध्नि - मस्तक पर, उठन्त = फैली हुई, वारिष्णवा = वारि - जल, छुव-प्रवाह - धारा,

चार पुरुषार्थोंमें) चौथे मोक्षरूपी पुरुषार्थकी श्रान्तचारित्र्य भाषि सत्त्व
सम्पदा कहिये । (यहां उत्तमोत्तम व्यक्ति ही उत्तमोत्तम श्रान्तचारित्र्य
देसकता है यह सार्वभौम है) ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।

कर्ममूलने हस्तिमङ्ग मङ्गिममिष्टुमः ॥ २१ ॥

पदार्थ—सुरासुरनराऽधीशमयूरनववारिदम् = सुर, असा
नर, अभीश इन्द्र मयूर, नव नवीन-प्रथम बच्चे मरा हुआ
अपाह महीनेश्वर वारिद शकल, देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र आदि स
म्राज्ञीरूपी मयूरकेस्त्रिये हर्षदेनवासे नवीन वाकल रूपी, तथा, कर्म
मूलने=कर्म शुभ अशुभ पुण्य, पाप, द्रु इल, उन्मूलन-उत्साह
ना, नाशकरना दूरकरना कर्मरूपी इलके उन्मादने में हस्तिमङ्ग
=ऐरावत हाथी समान मङ्गिम=त्रिनेश्वर श्रीमन्निनायकी अमिष्टुम-
=इम सृष्टि करत है ॥ २१ ॥

मावार्थ (नवीन काले बादसौधे देसकर मयूर हर्षसे मॉन
उठता है, देवेन्द्र आदिमी अन्धिय मक्ति होनेके कारण त्रिनेश्वर
देसते ही असन्त हर्षित हो जाते हैं, क्योंकि जैसे ऐरावत
हाथी इलोंको उखाड़ फेंकता है, जैसे ही त्रिनेश्वरनेमी कर्मरूपी इलना
बड़ मूसमे नष्टकर दिया है तथा उपदेशके द्वारा इलके कर्मकार
नाशकरते हैं । इसलिये—)देवेन्द्र आदिरूपी मयूरोंकेस्त्रिये नवीन
बादसौधे तथा कर्मरूपी इलके उखाड़ फेंकनेवासे ऐरावतकी
त्रिनेश्वर श्रीमन्निनायकी में सृष्टि करता है । (यहां जो समीक

प्रिय है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—(ऐसा अभिप्राय है) ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्युपसमयोपमम् ।

शुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

पदार्थ—जगन्महामोहनिद्राप्रत्युपसमयोपमम्=जगत् संसार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्युप - उपाकाल-प्राप्त, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्राणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उपाकालके समान, शुनिसुव्रतनाथस्य=जिनेश्वर श्रीशुनिसुव्रतनाथकी, देशनावचनम् = उपदेशवाणीकी, स्तुम = स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रातःकालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रातःकाल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेही जिनेश्वर अपनी उपदेशवाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं । शल्ये—) संसारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीशुनिसुव्रतनाथकी देशनावचनीकी स्तुति करते हैं । (यहा - ज्ञानप्रद वाणी ही प्रशसनीय है, अतः उसके अर्पण महान् आत्मा है - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

छुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।

वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांश्शवः ॥ २३ ॥

पदार्थ—नमताम् = प्रणामकरनेवालोंके, मूर्ध्नि - मस्तक पर, छुठन्तु = फैलती हुई, वारिप्लवा.=वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

पानीकी धारा, इव जैसे निर्मलीकारकरणम् = निर्मलीकर शुद्ध करना, करण-साधन, शुद्धकरनेका साधनरूप शुद्धकरनेवाले, नमे = त्रिनेश्वर श्रीनमिनाम्बकी, पादनस्वाद्यव = पाद पाँव, गत्, अंशु-किरण, पाँवके मसोंकी किरणें, पान्तु = (आप मन्मोकी) रक्षा करें ॥ २३ ॥

मावार्ध (जैसे पानीकी धारा मसोंके चोकर माँवा धारि अंगोको पवित्र करती है, जैसे ही त्रिनेश्वरके पाँवके मसोंकी किरणें मसोंपर पड़नेसे प्रणाम करनेवालोंको पवित्र करदेती हैं। इसलिये—) अतिशय भक्तिसे अत्यन्त शुद्धकर प्रणाम करनेवालोंके मस्तक पर फैलती हुई, एवं पानीकी धाराके समान पवित्र करनेवाली त्रिनेश्वर श्रीनमिनाम्बके पाँवके मसोंकी किरणें आप मन्मोकी रक्षा करें। (बड़ा जो पवित्र करे, वास्तवमें बही रक्षक है तथा त्रिनेश्वरके प्रणामसे जोक पवित्र होते हैं ऐसा आशय है) ॥ २३ ॥

यदुबंशसमुद्रेन्दुः कर्मकण्डुताशनः ।

अरिष्टनेमिभगवान् भूयाद्भोजरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

पदार्थ—यदुबंशसमुद्रेन्दुः = यदु यदुमन्मके राजा वंश मन्तान कुल समुद्र इन्दु चन्द्र यदुकुम्भरूपी समुद्रकेसिन्धे चन्द्र रूपी कर्मकण्डुताशन = कर्म पुण्यपाप, कण्ड वन, हुतात्मन भक्ति कर्मरूपी वनकेसिन्धे भक्तिरूपी भगवान् = ध्यान आदि गुणासे सिद्ध अरिष्टनेमिः = त्रिनेश्वर श्रीनमिनाम्ब वा = आप मन्मोके, अरिष्टनाशना = अरिष्ट उन्मर्ग, उपद्रव, माघन माघकरनेवाले सभी

उपद्रवोंके नाशकरनेवाले, भूयात्=होवें ऐसी मेरी प्रार्थना है
॥ २४ ॥

भावार्थ—(चन्द्र समुद्रको बढ़ाता है तथा अग्नि वनको जला देता है यह प्रसिद्ध है। जिनेश्वरने भी यदुकुलमें जन्म लेकर उसको बढ़ाया - प्रख्यात किया है, तथा जान एव चारित्रिके बलसे सभी कर्मोंको जला दिया है - नाशकर दिया है। इसलिये) यदुकुल रूपी समुद्रके लिये चन्द्ररूपी तथा कर्मवनके लिये अग्निरूपी जिनेश्वर श्री अरिष्टनेमिनाथ भगवान् आप भक्त्योंके उपद्रवोंका नाशकरें। (यहां-जो अरिष्टों-उपद्रवोंके लिये नेमि - चक्रधारारूपी हैं, तथा कर्म-सासारिक उपायियोंसे रहित हैं, वे ही उपद्रवोंका नाशकर सकते हैं - यह अभिप्राय है) ॥ २४ ॥

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।

प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

पदार्थ—स्वोचितम्=अपने अपने स्वभावके अनुरूप, कर्म-क्रिया, कर्मश उपसर्ग तथा उसका निवारणरूप क्रिया, कुर्वति=करनेवाले - करतेहुए, कमठे=कमठनामके असुरके विषयमें, च=और, धरणेन्द्रे=धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें, तुल्यमनोवृत्तिः=तुल्य - समान, मनोवृत्ति - भावना समानभावनावाले - पक्षपातरहित-समदर्शी - उदासीन - मध्यस्थ, पार्श्वनाथः=जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथ, प्रभुः=स्वामी, वः=आप भक्त्योंकी, श्रिये=सुखसम्पदा केलिये, अस्तु=हो, सुखसम्पदा बढ़ायें ॥ २५ ॥

मावर्षि—(शब श्रीपार्श्वनाथ प्रतिमास्मित थे, तो उनके चमकने के लिये पूर्वदशमके वैश्वानर नामके कर्मठनामके असुरने उनके उपसर्ग कियेये, तथा त्रिनेश्वरमठ होनेके कारण नागराज परमेश्वरने अपनी शक्तिसे उन उपसर्गोंको निवारण किया। फिरभी मगवान् दोनोंके विषयमें समदर्शी थे, किसीके ऊपर उनके राग तथा द्वेष नहीं था। इस कथाके अनुसन्धानसे सुक्तिकरते हैं कि) अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उध्व तथा उदका निवारण करनेवाले कर्मठ नामके असुर तथा त्रिनेश्वरनामके नागराजके, विषयमें समदर्शी वीतराग त्रिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथस्वामी आप मन्वोंकी सुखसम्पदा बढ़ा दें। (यहां मनु वीतराग हैं, तथा वीतराग ही सुखके मूल हैं यह भाव है) ॥ २५ ॥

कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्वरतारयोः ।

ईषदाप्यार्द्रयोर्मैत्र्यधीधीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति कृष्णकण्ठसूक्तोऽथैवमन्त्रार्थविरचितं सप्तम्यहस्तांशं समाप्तम् ॥

पदार्थ—कृताऽपराधे=कृत किया है अपराध जिसने ऐसे अपराधकारवालेके ऊपर अपि=भी कृपामन्वरतारयोः=कृपा दया मन्वर=स्त्रि धारा=आँसूके कण्ठे माय आँसूके तारे दयासे स्त्रि हैं आँसूके तारे जिनके दयापूर्णदृष्टिके अठपद, ईषदापा र्द्रयोः=इषद्=कुछ, वाप्य=आँसू धार्द्र मीगे दयासे उमड़ आये आँसूजोसे कुछमीगे धीधीरजिननेत्रयोः=त्रिनेश्वर परम

तीर्थहर श्रीमहावीरस्वामीके दोनों नेत्रोंका, भद्रम्=मंगल हो ।
श्रीवीरजिनके नेत्र सकल मंगलकी खान हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ— (जिनेश्वर श्रीमहावीरके ध्यानकी इच्छासे की गयी
प्रश्नाकी परीक्षा करनेकेलिये पृथिवीपर आकर मगमनामके नुरने
उनका ध्यान तोड़नेकेलिये अनेकों भयकर उपसर्ग किये, किन्तु
असफल होकर लौटनेकेसमय उन अनुरके विषयमें 'आततायी इस
देवकी क्या गति होगी ?' इस आशकासे श्रीवीरजिनकी आंखोंमें
दयासे जासू उमड़ आये तथा उसको स्थिरदृष्टि - एकटकसे देखने
लगे - इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुति करते हैं कि-) अपराधकरने-
वालेके ऊपरभी दयासे स्थिर तथा जासूसे भरे जिनेश्वर श्रीमहावीर
स्वामीके नेत्रका मंगल हो - वह सर्वमंगलकारक है । (यहा - जो
नेत्र अपराधीके ऊपर भी दयापूर्णहों, वैसे नेत्रवाले हीं सकल
मंगलकारक हैं, तथा जिनेश्वर अपराधीके प्रतिभी दयालुहीं होते
हैं—यह आशय है) ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हस्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरि-
मभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टा -
लङ्कारसमयज्ञशान्मूर्त्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीपट्टधर - सिद्धान्त-
महोदधि - प्राकृतविद्विजारादचार्यवर्यविजयश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिरत्नाख्यहिन्दी-
भाषानुवाद समाप्त ॥

॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

कन्निकात्मसर्षङ्गश्रीहोमचन्द्राचार्यने परिशिष्टपर्कनामके चरितप्रबन्ध का प्रारम्भ करतेहुए मंगलश्लोके श्रीमहावीरस्वामीको प्रणाम करते हैं—

श्रीमत् वीरनाथाय सनाथायाऽव्युत्थभिया ।

महानन्दसरोराजमराठायार्ज्वते नमः ॥ १ ॥

पदार्थ—अव्युत्थभिया=अद्भुत आश्चर्यकारक, श्री-अतिशय सम्पदा, आश्चर्यकारक अतिशयसम्पदाओंसे सनाथाय=पुरु-विरञ्जित, महानन्दसरोराजमराठाय=महानन्द महानन्दरूपी, सरसु राजा सरोर सरोरस मरस हुसके राजा सन्देश महान् भानन्दरूपी सरोवरके राजहंसस्वरूप अर्थात्=वरिष्ठ तीर्थहर विनेश्वर श्रीमते=श्रीमान् वीरनाथाय=महावीरस्वामीको नमः=मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥

माधर्म—(जैसे सरोवरमें राजहंस सर्वाधिक शोभास्पद तथा बबोछ विहार करनेवाला सरोवरके कमल आदि सम्पदाओंका बबोछ उपभोग करनेवाला होता है वैसेही विनेश्वर अनन्त अतिशयसे विराजित एवं मुक्त होनेसे अनन्त शक्ति तथा अलंकारसे महान् भानन्दरूप बबोछ उपभोग करनेवाले हैं । इसलिये) असाधारण तथा अत्यधिक होनेसे आश्चर्यकरक सत्य आदि अतिशयसे विरञ्जित एवं महान् अनन्त, शक्ति तथा अलंकार महान् श्रेष्ठरूपी

सरोवरके राजहसस्वरूप चरम तीर्थङ्कर श्रीमान् महावीरस्वामीको मेरा प्रणाम हो - मैं प्रणाम करता हूँ । (यहां जो अद्भुत अतिशयोक्ते विराजित तथा मुक्त हैं, वही नमस्कारयोग्य तथा मंगलकारक हैं— यह भाव है) ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधसामाद्यनादिमं परमेष्ठिनाम् ।

देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वेषाम्=सभी, वेधसाम्=ज्ञानियोंके अथवा वासुदेव-अर्धचक्रियोंके, आद्यम् = मुख्य अथवा प्रथम, तथा, परमेष्ठिनाम् = प्रसिद्ध पञ्च परमेष्ठियोंके, आदिमम् = सर्वप्रथम - गणनीय - अग्रगण्य, देवाधिदेवम् = देवाधिदेव - देवोंकेभी सेव्य, सर्वज्ञम् = सर्वज्ञ - केवल-ज्ञानी, श्रीवीरम् = चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका, प्रणिदध्महे = ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ होनेके कारण सभी ज्ञानियोंके मुख्य हैं, अथवा सभी अर्धचक्री वासुदेवोंके प्रथम हैं, (यहाँ - प्रथम चक्रवर्ती भरतके पुत्र मरीचिका जीव त्रिपृष्ठनामके प्रथम बाल्लदेव हुए थे, तथा वह त्रिपृष्ठबाल्लदेवका जीवहीं चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी हुए-ऐसा आगममें वर्णित है,—यह ध्यान देने योग्य है ।) तथा जो अतिशयो, निर्हेतुककृपा एवं सभी प्राणियोंका उपकार आदिगुणोंके कारण, अर्हत् - सिद्ध - व्याचर्य - उपाध्याय साधु - इन पञ्च परमेष्ठियोंमें अर्हत् - शब्दसे सर्वप्रथम कहे जाते हैं तथा अग्रगण्य हैं, ऐसे देवाधिदेव-देवोंकेभी पूज्य सर्वज्ञ चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका मैं ध्यान

करता है । (महां शान्ती कामनावालेकेलिये उर्षुकुण्डविधि
वीचकर ही म्येय है - यह अभिप्राय है) ॥ २ ॥

कल्याणपादपाञ्चामे भुवगङ्गाहिमाचलम् ।

विद्याऽम्भोजरश्मि देव वन्दे भीष्मातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पदार्थ कल्याणपादपाञ्चामम्=कल्याण शुभ, पादप-पद,
आयन उपवन, बगीचा कल्याणरूपी वृक्षकेलिये उपवनरूपी, भुव-
गङ्गाहिमाचलम्=भुव आगम, गङ्गा गङ्गानदी हिमाचल-हिमाचल
पर्वत, आगमरूपी गङ्गानदीकेलिये हिमाचलपर्वतरूपी, विद्याऽम्भोज-
रश्मि=विद्या संसार संसारके सभी प्राणी अम्भोज-कमल रश्मि-सूर्य,
संसारी प्राणीरूपी कमलोंकेलिये सूर्यरूपी, देवम् = देवविदेव,
भीष्मातनन्दनम्=भीष्मात इत्यानुर्बन्धकी धाता शतकुल नन्दन-
पुत्र हर्षवर्षक, (चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामी)की वन्दे=मैं वन्दन
करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(जैसे उपवनमें अच्छे वृक्षोंका पोषण, स्वर्षन एवं
रक्षण होता है, उसमकार ही जो कल्याणक पोषण स्वर्षन तथा
रक्षण करनेवाले कल्याणमय है । तथा, जैसे हिमाचल पर्वत गंगा
नदीका उद्गमस्थान है वैसे ही जो आगमों के उद्गमस्थान-मण्डल हैं ।
तथा सूर्य जैसे कमलोंका प्रोषित विकसित करता है वैसे ही जो
संसारी प्राणीको सतुषैवेष्टांक द्वारा प्रोषित करते हैं—सम्पूर्ण ज्ञान
देते हैं । इसलिये) कल्याणरूपी वृक्षोंके उपवनरूपी, आगमरूपी
गङ्गानदीके हिमाचलपर्वतरूपी तथा मन्वयप्राणीरूपी कमलोंके सूर्यरूपी

ज्ञातकुलोद्भव चरमतीर्थकर देवाधिदेव श्रीमहावीर स्वामीकी मैं वन्दना करता हूँ । (यहा-शुभकारक, आत्मप्रवर्तक, ज्ञानप्रद तथा उच्चकुलोत्पन्न एव देवोंकेभी वन्दनीय ही वन्दनीय हो सकने हैं—यह भाव है)
॥ ३ ॥

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।

भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्र समाप्तम् ॥

पदार्थ—भव्यानाम्=भविष्यमें सिद्धि प्राप्तकरनेवाले - भव्य-प्राणियोंके, आन्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः=आन्तर - अन्तरग, मल-दोष - राग, द्वेष, कषाय आदि, प्रक्षालन - धोना, शुद्ध करना, दूर करना, जल, उपमा - समान, अन्तरग-रागद्वेष कषाय आदि - दोषोंके दूरकरनेमें निर्मलजलसमान. श्रीमहावीरस्वामिनः = चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामीकी, देशनागिरः=उपदेशवाणी - प्रवचन, वः=आप-भव्योंकी, पान्तु=रक्षारें, आत्मशुद्धिके द्वारा कल्याणप्रद हों ॥ ४ ॥

भावार्थ — (जैसे निर्मल जल - गरीर वस्त्र आदिके मैलको साफ करदेता है, वैसेही तीर्थकरकी वाणी सन्त्यग् ज्ञानका प्रतिपादन करनेके कारण आत्माके दोषों-रागद्वेष कषाय आदि-को दूर करनेवाली है । इसलिये) भव्यप्राणियोंके अन्तरग दोषोंके दूरकरनेमें निर्मल-जलसमान, चरमतीर्थकर श्रीमहावीरस्वामीकी देशनावाणी आपकी रक्षारें - अन्तरग दोषोंको दूरकर आत्माकी शुद्धि करें । (यहा-

अन्तरंग बोधोके दूरे करनेवाले ही वास्तविक रक्षक है—यह आशय है) ॥ ४ ॥

इति श्रीभीरखिनस्तोत्रे तपोगच्छामिपति-शासनसमाह-कव्यमिरी
 ममुत्पनेकलीबो-द्वारक्यास्त्रजसपात्याचार्यकर्मश्रीम द्विजमवेमिसूरीभरपहास-
 हार-समयह-शान्तमूल्याचार्यकर्मश्रीविजयविज्ञानसूरीभरपहास-सिद्धान्त
 महोदधि माह्वविद्विहारदाचार्यकर्मश्रीविजयकस्तूरसूरीभरसिष्य-पत्या
 सधीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिकलास्यहिन्दीभाषाजुबाव
 समाप्त ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥



पन्यासश्रीकीर्तिकचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकलाव्याख्यसहितानि
पुस्तकानि—

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेद-
द्वात्रिंशिका च) कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।
२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
३. वीतरागस्तव :—कीर्तिकलाव्याख्याविभूषित. ।
४. वीतरागस्तव :—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।
५. स्तोत्रत्रयी (सकलाऽर्हस्तोत्र-वीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि)
कीर्तिकलाहिन्दीव्याख्यासहिता ।
६. स्तोत्रत्रयी - कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।
७. अध्यात्मसार :—कीर्तिकलाव्याख्यासहित (यन्त्रस्थ.) ।
(सम्पूर्ण-भागों में) ।

प्राप्तिस्थान —

श्रीजनकलालकान्तिलाल ।
लिव्बडीशेरी, पेटलाद,
वाया-ज्वाणन्द, (गुजरात) ।

॥ अहम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-धरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

श्रेय प्राप्तिकेलिये महादेवकी आराधना करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है । महादेव ही शिव, महेश्वर आदि शब्दोंसे सम्बोधित किये जाते हैं । किन्तु उनके स्वरूपके विषयमें सम्प्रदायोंका भिन्न भिन्न मत है । इसलिये कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजीने महादेवके पारमार्थिक स्वरूपके परिचयकेलिये श्रीमहादेवस्तोत्रकी रचना की है । जिसमें शिव, महेश्वर, महादेव आदि शब्दोंकी व्याख्याके द्वारा श्रीमहादेवस्तोत्रका प्रारम्भ करते हैं—

प्रशान्त दर्शन यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।

मद्गत्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका, दर्शनम्=देखाव, देखना, प्रशान्तम्=शान्त, शमभावनाका उद्बोधक, आत्मानें रहे हुए उपशमभावका

व्यञ्जक, जो उग्र तथा उद्देगजनक नहीं हो ऐसा, तथा, सर्वमूर्ता-
ऽमयप्रदम्=सभी प्राणियोंक अमय देनेवाला, जो किसीके लिये भी
मयकारक नहीं हो ऐसा, तथा, मङ्गल्यम्=मङ्गलकारक एवं मङ्गल-
स्वरूप, एवं, प्रशस्तम्=शुभ, प्रशस्तनीय तथा इष्ट है, तेन=दर्शनका
प्रदान्त आदि दानके कारण, शिवः=शुभ, शिव ऐसे, विभाष्यते=
समसे भाते हैं कहे जाते हैं ॥ १ ॥

मावार्थ-जिस देवका देखाव झान्त है तथा मयकारक नहीं
है, तथा मङ्गलकारक एवं प्रशस्तनीय है । अथवा जिस देवके देसनेसे
छान्ति मिलती है तथा मय नहीं होता, तथा मङ्गल होता है, इसलिये
जिस देवका देसना शुभ तथा इष्ट है । अतः वह देव शिव कहे
तथा समझे जाते हैं । (जिस देवका देखाव अस्वामाधिक-मनेक
मेव मुख आदिसे तथा क्रोध आदिसे एवं अज्ञ आदिसे मुक्त
होनेके कारण उग्र एवं मयप्रद तथा मम एवं मुण्डमाका आदिसे मुक्त
होनेके कारण अमङ्गल एवं निन्दनीय है । अथवा उग्र एवं बिरुत
अंग तथा अज्ञादिसे मुक्त होनेके कारण जिस देवक देसनेसे शोभ,
मय एवं अमङ्गल होते हैं, इसलिये जिसका देसना अनिष्ट है । वह
देव शिव नहीं कहे जा सकते । क्योंकि शिवशब्दका अर्थ शुभ तथा
शुभकारक-ऐसा ही होता है । इसलिये अन्यतीर्थिकोंके शिव, जो
विद्वत् अंगवाले कोभी विगम्बर एवं सन्नाहिसहित कहे गये हैं,
वह शब्दमात्रसे ही शिव है, अर्थसे नहीं-ऐसा अनिष्टाय है) ॥ १ ॥

प्रस्तुत श्लोकका दूसरा अर्थभी हो सकता है । जैसे-यस्य=
जिस देवसे प्रतिपादित, दर्शनम्=दर्शन सिद्धान्त, प्रदान्तम्=दान

है, तथा, सर्वभृताऽभयप्रदम्=सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला है ।
 तथा, मङ्गल्यम् च,=कल्याणकारक है, तथा, प्रशस्तम् च=प्रशसनीय
 तथा इष्ट है । तेन=उक्त गुणोंके कारण (वह देव) शिवः=शिव-
 शुभप्रद, विभाव्यते=कहे तथा माने जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस देवका सिद्धान्त मुक्तिका प्रतिपादन करनेके
 कारण शान्तिकी राह बताता है, इसलिये प्रशान्त है । तथा अहिंसा
 आदिके उपदेशके द्वारा सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला, शुभमार्गके
 उपदेश देनेके कारण कल्याणकारक है, इसलिये वह दर्शन प्रशस-
 नीय तथा इष्ट है । वह देव शिव शब्दसे कहे जाते हैं, तथा शिव
 समझे जाते हैं । (अन्यतीर्थिकोंके प्रसिद्ध शिवका दर्शन-सिद्धान्त
 हिंसा आदिसे होनेवाले यज्ञ आदिका प्रतिपादन करनेके कारण
 अशान्त, भयप्रद एवं अशुभानुबन्धी है, इसलिये अमंगल तथा
 निन्दनीय है । अतः वह देव शब्दमात्रसे शिव हैं, अर्थसे नहीं-
 ऐसा अभिप्राय है ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं त महेश्वरम् ॥ २ ॥

पदार्थ—यः=जिस देवने, महत्त्वात्=महिमासे, च=तथा,
 ईश्वरत्वात्=ऐश्वर्यसे, महेश्वरताम् = महेश्वरपन-वङ्गप्पन, गतः=
 प्राप्त किये हैं, रागद्वेषविनिर्मुक्तम्=राग तथा द्वेषसे विनिर्मुक्त-रहित=
 चीतराग ऐसे, तम्=उस, महेश्वरम्=महेश्वर कहे जानेवाले देवकी,

अहम्=मै, वन्दे=वन्दना करता हूँ मैं उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

मावार्थ—जिस देवने सर्वकर्मक्षय तथा केवल-वर्षन, शान्त चरित्र आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी महिमासे तथा सृष्टि आदि अतिशयरूपी ऐश्वर्यसे महेश्वरपन प्राप्त किये हैं—महेश्वर कहे गये हैं। मैं भीतराग ऐसे उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ। (जिन परतीर्थियोंके महेश्वरकी महिमा अलौकिक एवं असाधारण नहीं, किन्तु जगत्का पावन संहार आदि लौकिकही कही गयी है, तथा सृष्टि आदि अतिशय नहीं कहे गये हैं एव स्त्री आदि परिमह घत्रुनिग्रह-महानुग्रह आदिके कारण जो भीतराग नहीं हैं। वे शब्दसे ही महेश्वर हैं, सर्वसे नहीं। इसलिये वे मुमुक्षुओंके प्रथम नहीं - ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

महाज्ञानं मधेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।

महादया-दम-भ्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका महाज्ञानम्=महान्-अन्य ज्ञानों की अपेक्षासे उत्तम, विपुल, नित्य एवं अनन्त, ज्ञान के सम्पन्न, लोकालोकप्रकाशकम्=स्वैक संसार तथा संसारमें रहनेवाले मूढ मन्वियों तथा वर्णमान सभी द्रव्य तथा उसका पशु, असौक्य-संसारसे बाहरना भावप्रद=उम वानाका प्रकाशक प्रदूषण करनेवाला=ज्ञानने वस्य दे, अथवा स्वयंस्वैकप्रकाशक होनेके कारण जिनका ज्ञान महाज्ञान है तथा, महादया दम-भ्यानम्=महान् सर्वभीतोंके प्रति

होनेसे अन्यकी अपेक्षासे उत्कृष्ट ऐसी दया तथा, महान् - असाधारण, दम इन्द्रियमनोग्रह, एव महान् - निर्विकल्पक होनेसे सर्वोत्तम, ध्यान - शुक्लध्यान है, सः=वह देव, महादेव =महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस देवका लोक तथा अलोक दोनोंके जानने वाला ऐसा महान् ज्ञान है, अर्थात् जो देव केवलजानी है, अथवा जिस देवका महान् ज्ञान लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक है। तथा जिस देवकी दया, दम तथा ध्यान महान् है, अर्थात् जिस देवकी दया सर्वजीवोंके प्रति है, दम कभी भग नहीं होनेके कारण असाधारण है, एव ध्यान निर्विकल्पसमाविरूप शुक्लध्यान है, वह देव महादेव कहे जाते हैं। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव शब्दसे ही महादेव हैं। क्योंकि वे केवलजानी नहीं हैं, तथा सृष्टिका सहार करनेके कारण उनकी दया महान् नहीं है, उनका दमभी उनके परिग्रही होनेके कारण महान् नहीं है, तथा ध्यान भी सौम्य होनेके कारण महान् नहीं है - यह तात्पर्य है) ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।

निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

पदार्थ—स्वशरीरके=अपने शरीरमें, तु=हीं, ये=जो, तिष्ठन्तः=रहे हुए, रहनेवाले, महान्तः=बहुत बड़े, तस्कराः=चोर हैं, वह, येन=जिस, देवेन=देवसे, निर्जिताः=जीते गये हैं, सः=वह देवही, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

मार्ग—अपने शरीरमें ही जो धन, पशु आदि चुरानेवाले चारोंकी अपक्षासे अधिक बलवान् तथा शौक्तिक धोर जिसको नहीं चुरा सकते ऐसे सम्पगृहर्षन, ज्ञान आदि आत्माके सर्वस्वक चुरानेवाले इन्द्रियरूपी महान् चोर रहे हुए हैं उनके जिस अनन्तज्ञान आदिसे युक्त देवने जीत लिये हैं वह त्रितेन्द्रिय देव ही महान् चोरोंके जीतनेके कारण महादेव बड़े व्यते हैं। (किन्तु परतीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहवाले हैं, इसलिये वे अपने शरीरमें रहे हुए उन महान् चोरोंके जीतनेवाले नहीं हैं। किन्तु उन चोरोंके ही भर्षीन हैं। अतः वे सम्प्रमात्रसे ही महादेव हैं—बह माव है) ॥ ४ ॥

रागद्वेषो महामह्यो दुर्जयो येन निर्दिती ।

महादेव तु तं मन्ये श्रेया वै नामधारकाः ॥ ५ ॥

पार्थ—येन=जिस देवने, रागद्वेषो=रागद्वेषरूपी, दुर्जयो=दुर्जय बह कष्टसे जीतने योग्य, महामह्यो=महान् बह पशुमानोंको निर्दिती=जीतलिये हैं तम्=उस देवको तु=ही महादेवम्=महादेव, मन्ये=मै मानता हूँ। श्रेयाः=अवशिष्ट उस देवके अवशिष्ट दूसरे देव अन्यतीर्थिकोंके महादेव, वै=तो, नामधारकाः=महादेव ऐसे नामधारण करनेवाले ही हैं। (किन्तु अज्ञानमें महान् देव होनेके कारण महादेव नहीं है) ॥ ५ ॥

माद्यथ—जिस देव (त्रिनेश्वर)न रागद्वेषरूपी (अथवा काष्ठसे रहनेके कारण अत्यन्त बलवान् होनेसे) दुर्जय ऐसे महान्

महोक्तो जीत लिये है, अर्थात् आत्मामें अनादिकालसे रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ होनेसे दुस्त्वाज्य ऐसे रागद्वेषोंका जिस देवने त्याग कर दिया है, उन देव (वीतराग जिनेश्वर)को ही मैं महादेव मानता हूँ। अर्थात् दूसरे देवोंसे अजेयके जीतनेवालेको ही महादेव कहना योग्य है। अन्य तीर्थिकोंके देवतो नामसे ही महादेव हैं। (अर्थ तथा गुणसे नहीं। क्योंकि वे स्त्री आदिका परिग्रह तथा शत्रु आदिके निग्रह आदिमें प्रवृत्त होनेसे रागद्वेषके ही अधीन हैं, उसके जीतनेवाले नहीं। इसलिये वे वास्तविकरूपसे महादेव नहीं हैं - यह अभिप्राय है) ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।

शब्दतो गुणतश्चैवार्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

पदार्थ—लौकिकानां=लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे ही कृतार्थ ऐसे साधारण जनों (अन्यतीर्थिकों)के, मते=मतमें, मतः=माने गये, महादेवः=महादेव, शब्दमात्रः=नाममात्र ही हैं। किन्तु, जिनशासने=जिनेश्वरसे उपदिष्ट सिद्धान्तके अनुसार माने गये महादेव, शब्दतः=नामसे, अर्थतोऽपि=अर्थसे भी, गुणतश्चैव=और गुणसे भी, (महादेव हैं) ॥ ६ ॥

भावार्थ—सम्यक्चरहित तथा वस्तुके अनेकान्तरात्मक स्वरूप के नहीं जाननेवाले लौकिक पदार्थ स्त्री, पुत्र तथा धन आदिको ही सर्वस्व माननेवाले मुक्तिमार्गसे वञ्चित ऐसे लौकिक-अन्यतीर्थिकोंके मतमें माने गये महादेव नाम मात्रसे महादेव हैं (गुण तथा अर्थसे

नहीं। क्योंकि वे अितेन्द्रिय बीतराग आदि गुणोंसे युक्त न
हैं।) विनशासनमें माने गये विनेश्वररूपी महादेव तो शम्भु
महादेव ऐसे नामसे, एवं महान् — केवलज्ञान आदि होनेके कारण
अन्यदेवोंसे श्रेष्ठ देव ऐसे अर्थसे तथा ऊपर अर्पित गुणोंसे भी
महादेव हैं ॥ ६ ॥

अकितो अ्यक्तितथैव विज्ञानाच्छ्रवणाद्या ।

मोहमालं इत येन महादेवः स उच्यते ॥ ७ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, मोहमालम्=मोह ममताके
कारण समूहको सभी प्रकारकी ममताओंको नाशकर दिया है त्याग
कर दिया है सः=वह देव, अकितः=अकितसे अ्यक्तितथैव=तथा
अ्यक्तित्वसे विज्ञानात्=नि विशिष्टज्ञान केवलज्ञानसे तथा=और,
श्रवणात्=श्रवणसे महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं।
अथवा जिस देवने अकितः=अपने अ्यक्तित्व अतन्त आत्मनिर्मिते
तथा केवलज्ञानरु प्रभावसे अ्यक्तितः=एक एक करके, मोहोका
नाशकिया है वह श्रवणात्=मोहनाशरूप श्रवणसे, महादेव कहे
जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस (विनेश्वर) देवने सभी प्रकारकी ममता-
आका त्याग कर दिया है वही महादेव नाश करनेवाले सकल कर्मके
द्वारा अ्यक्तिर्भूत अतन्त आत्मनिर्मित तथा श्रवण आदि अतिशयवाले
अज्ञानारव तथा अस्मैकिक अ्यक्तित्व एवं केवलज्ञान और कहे गये
तथा भागे कहे जानेवाले अ्यक्तित्व इन सभी गुणोंके होनेसे महादेव

कहे जाते हैं। अथवा जिस देवने अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्य और केवलज्ञानके प्रभावसे एक एक करके मोहोंका नाश कर दिये हैं, ऐसे वह (जिनेश्वर) देवही महादेव कहे जाते हैं। (अन्यतीर्थिकों के महादेव, वीपुत्र आदिमें भ्रमत्व होनेके कारण तथा उक्त प्रकारके शक्तिआदि गुण नहीं होनेके कारण गुणसे या अर्थसे महादेव नहीं हैं-यह आशय है) ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविवर्जित ! ।

महालोभविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

पदार्थ - महामदविवर्जित ! = हे महान् मद-उद्धृष्टता-अङ्कारसे, विवर्जित रहित, निरभिमानी महालोभविनिर्मुक्त ! = हे महान् लोभसे, विनिर्मुक्त रहित, निर्लोभी, महागुणसमन्वित ! = हे महान् गुणोंसे समन्वित-विभूषित, महादेव ! = हे महादेव !, जिनेश्वर, ते = आपको, नमः = (मेरा) नमस्कार, अस्तु = हो ॥ ८ ॥

भावार्थ — ज्ञान आदिका उत्कर्ष रहने पर भी उसके मदसे रहित होनेके कारण तथा किसीभी प्रकारके मद नहीं रहनेके कारण महान् निरभिमानी, किसीभी प्रकारके परिग्रह नहीं रहनेसे तथा सभी प्रकारके लोभसे रहित होनेके कारण महान् निर्लोभी, असाधारण एव अलौकिक निरभिमानता, निर्लोभता, सभी प्राणियोंका उपकार तथा केवल ज्ञान आदि महान् गुणोंसे विभूषित ऐसे हे महादेव ! जिनेश्वर ! आपको मेरा नमस्कार - प्रणाम है। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो बल आदिके अभिमान तथा श्मशानवास,

मृत्यु आदि मत्तजनोके योग्य क्रियाआसे मुक्त होनेके कारण अत्यन्त मत्त पूजानैवेद्य आदिको छोम होनेके कारण महान् छोमी, अत एव उत्तम गुणोसे रहित होनेके कारण महादेव नहीं हैं, इसलिये बन्वनीय भी नहीं है (ऐसा अभिप्राय है) ॥ ८ ॥

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।

क्षयाय च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महारागः=महान् क्रिष्ण स्वप्न अक्षय्य है ऐसा, अत्युत्कृष्ट, राग विषयासक्ति तथैव च=और महाद्वेषः=महान्-अत्युत्कृष्ट रूप अनिष्ट विषयोंमें अभीष्टि, एवं, महामोहः=महान् मोह मन्त्र च=उषा, क्षयाय=क्षय कोष, माम्, माया, सोम इन सभीका हतः=नाश किये हैं, त्याग किये हैं सः=ऐसे बह (त्रिमंथर) देव ही, महादेवः=महादेव, उच्यते =कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—(अम पारण एवं अलौकिक अतिशय शक्ति, ज्ञान आदिसे मुक्त) जिस देवने (अनादि कर्मसे रहनेके कारण) महान्-अत्यन्त बड़ एवं दुर्बल ऐसे राग, द्वेष, तथा महान्-विषेकषे ब्रह्म करनेवाले मोह एवं महान् कोष मान माया तथा क्रोमरूप क्षय-इन सभीक त्याग कर दिये हैं । बह नेच ही महादेव कहे जाते हैं । (इन सभी गुणोंसे मुक्त त्रिमंथर ही हैं इसलिये वही महादेव है अन्य तीर्थिकक इष्ट महादेवके मह सब गुण नहीं हैं अतः वे नाम्बारी महादेव ही हैं—एह आक्षय है) ॥ ९ ॥

महाकामो जितो येन महाभयविवर्जितः ।

महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महाकामः=महान् अत्यन्त उत्कट काम - कामना - वासना - कामिनीजिजासा आदिका, हतः=नाश - त्याग क्रिया है, तथा जो, महाभयविवर्जितः=महान् भयसे विवर्जित-रहित हैं, च =तथा, महाव्रतोपदेशी=महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, सः=वह देव हीं, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ - जिस देवने अत्यन्त उत्कट ऐसी भोग तथा उप-भोगकी इच्छारूपी महाकामका (चारित्रिके पालन आदिसे) त्याग - दमन किया है, अर्थात् जो सर्वथा निष्काम हैं, तथा जो (सकल कर्माका क्षय करनेसे) जन्म जरा मरण आदिरूप भवके महान् भयोंसे रहित - अत्यन्त निर्भय हैं । एव सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी पाच महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, वह देव हीं महादेव कहे जाते हैं । (जिनेश्वरमें यह सभी गुण हैं, इसलिये वही महादेव है । अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहोंसे युक्त होनेके कारण कामी, गन्धु आदिसे भयनीत एव हिंसासे होनेवाले निरुष्ट यज्ञ आदिके उपदेशक होनेसे शब्दसे हीं महादेव हैं गुणोंसे नहीं-यह तात्पर्य है) ॥ १ ॥

महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।

महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

पदार्थ—येन=असि देवने महान्क्रोधः=महान् क्रान्त
 स्य क्रोध, महामानः=महान् अत्यधिक मान अस्मिन् अहंकार,
 महामाया=महान् अपार माया—शठता, महामद=महान् मन
 धिक मद बल विद्या ऐश्वर्य आदिके अस्मिन्मानसे हुई उद्वेग,
 शया, महालोभ=महान् अत्यन्त लोभ, इन सभी दोषोक्त, इत =
 नास्त क्रिये हैं—त्याग कर दिये हे, स=वद देव, महादेव =
 महादेव, उच्यते=कहे आते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ - अस्मि देवने (ज्ञान तथा आदिके वस्त्रों)
 अत्यन्त उद्वेग, द्विसादिके प्रकृति करण तथा स्वामी एवं अधिक
 परिमाणमें ज्ञानके कारण महान् क्रोध गुरु आदिकी अज्ञान
 करानेवाले तथा अत्यधिक होनेके कारण मन्-विद्या कुछ बल
 आदिके अस्मिन् अपार माया, अस्मिन् आदिके प्रकृति तथा अज्ञान
 बल आदिके अस्मिन्मानसे ज्ञानवाली महान् उद्वेगता एवं दुस्वप्न
 होनेसे महान् लोभ इन सभी दोषों-कामाका माया-त्याग किया
 है। अथात् हा देव कृपाय रक्षित एवं निर्मल हैं वह देव ही
 मन्-देव कहें आते हैं। (वीरराग ज्ञानी एवं मयमी होनेके
 कारण जिनेश्वर उक्त सभी दोष आदि ज्ञानार्थ तथा मन्से रक्षित हैं
 इत्यन्त्ये वीर मन्-देव हैं। अस्मिन्-विद्याके महादेव पुराण आदिमें
 शोभी मानी आदि रूपमें वर्णित हैं, इत्यन्त्ये वह मन्-देव मन् हैं —
 एसा अस्मिन्-देव है) ॥ ११ ॥

मनानन्ददय यस्य महाजानी महातपाः ।

महायागी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवके, महानन्ददये=आनन्द तथा दया महान् सर्वोत्कृष्ट हैं। तथा जो देव, महाजानी=महान् सर्वद्रव्य-पर्यायविषयकहोनेसे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी-ज्ञानवाले, केवलज्ञानी महातपाः=महान् दूसरोंसे अत्यधिक तपस्वी, महायोगी=महान्-असाधारण योगी, महामौनी=महान्-विशुद्ध मौनी-मौनव्रतपालक तथा मुनिके महान्-उत्कृष्टलक्षणोंसे युक्त हैं। सः=वही, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस देवका आनन्द महान्-शाश्वत, अखण्ड, अनन्त एव निरुपाधिक तथा निर्विकल्प होनेके कारण सर्वोत्तम है, तथा जिस देवकी दया महान्-सब जीवोंके प्रति समान रूपसे होनेके कारण अन्यदेवोंकी अपेक्षासे अत्यधिक है। तथा जो देव अनन्त तथा सर्वपदार्थविषयक होनेसे महान् ज्ञानवाले-केवलज्ञानी, दुष्कर, विशुद्ध एव अत्यधिक अनशन आदि तप करनेके कारण महान् तपस्वी, सहज आदि अतिशयोंका कारणभूत होनेसे असाधारण एव अलौकिक योगसे युक्त तथा मुनियोंके सर्वोत्तमभावों एव क्रियाओंसे युक्त हैं। वह देवही महादेव कहे जाते हैं। (परतीर्थिक देव उक्त सभी गुणोंसे रिक्त होनेके कारण वास्तविक रूपसे महादेव नहीं कहे जा सकते—ऐसा भाव है) ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुणः ।

महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवके, महावीर्यम्=वीर्य-आत्मबल महान्-सर्वाधिक हैं, महाधैर्यम्=धैर्य-सन्तोष महान्-सर्वोत्कृष्ट हैं, महाशीलम्

=शील-चारित्र्य महान्-असाधारण एवं सर्वोत्तम हैं, महागुणः=गुण-सम्पन्नदर्शन, ज्ञान आदिगुण महान्-असाधारण एवं अद्वैतिक हैं, क्षमा महामञ्जुष्णमा=जिनकी क्षमा अपराधकी सहनशीलता महान्-प्रसन्ननीम सर्वाधिक अत एव मञ्जु-मनोहर है, सः=सर्व देव, महादेवः =महादेव उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

मातार्थ-जिस देवके आत्मबल एवं उत्साह क्षामिक होनेके कारण अनन्त है, सन्तोष कभी अल्प नहीं होनेके कारण स्थिर एवं सर्वाधिक हैं चारित्र्य असाधारण अद्वैतिक एवं सर्वोत्कृष्ट हैं सम्पन्नदर्शनआदि गुण अप्रतिपाती एवं अनन्त हैं, क्षमा प्रसन्ननीम एवं असाधारण हैं वह देवही महादेव कहे जाते हैं । (अन्वैतिक देवोंके ये गुण नहीं हैं । क्योंकि वे रागद्वेष आदिसे अभिभूत हैं । इसलिये वे महादेव नहीं कहे जा सकते । किन्तु विनेश्वर ही उक्त गुणोंसे शोभित होनेके कारण महादेव हैं—यद् अभिप्रय है) ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रसन्नकम् ।

अनन्तवीर्यचारित्र्यं स्वयम्भूः सौजमिधीयते ॥ १४ ॥

पदार्थ-यसः=जिस देवके, लोकालोकप्रसन्नकम्=लोक तथा अलोक दोनोंका प्रसन्नक-ज्ञाननेवाला, ज्ञानम्=केवलज्ञान, स्वयम्भू-तम्=स्वय-गुरुके उपदेशके बिना ही अपने आप मूत-मगट हुआ है, तथा जिस देवके, अनन्तवीर्यचारित्र्यम्=चारित्र्य तथा वीर्य अनन्त हैं, अथवा स्वयम्भूतं स्वय-किमी देव आदिकी कृपा आदिके बिना ही

अपने आप मृत प्राप्त हैं, सः=वह देवही, स्वयम्भुः=स्वयम्भू,
उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस देवके लोकालोकके परिच्छेद करनेवाला-तीनों
कालमें सर्वद्रव्यपर्यायका ग्रहण करनेवाला-केवल-ज्ञान गुरु आदिके
उपदेशके बिना ही जन्मसे ही ज्ञानलय युक्त होनेके कारण चारित्र-
फलनसे कर्मोंके नाश हो जानेसे अपने आप प्रगट हो गया है।
तथा जिस देवके चारित्र एव आत्मबल क्षायिक होनेसे अनन्त हैं,
अथवा जिस देवके लोकालोकप्रकाशकज्ञान तथा अनन्तवीर्य एव चारित्र
स्वयमृत=कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेसे (बादलोंके हट जानेसे
सूर्यके जैसे) अपने आप प्रगट हो गये हैं, वह देवही स्वयम्भू कहे
जाते हैं। (ऐसे स्वयमृत-ज्ञान, वीर्य तथा चारित्रवाले जिनेश्वर ही
हैं, दूसरे देव नहीं। इसलिये जिनेश्वर ही एकमात्र परमार्थ रूपसे
स्वयम्भू हैं, दूसरे तो नामधारी ही हैं—यह भाव है) ॥ १४ ॥

शिवो यसाञ्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।

कायोत्सर्गि च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

भावार्थ—यसात्=चूकि, जिनः=जिनेश्वरदेव - कणभनाथ
आदि तीर्थङ्कर, कायोत्सर्गि=कायोत्सर्ग मुद्राके धारण करनेवाले,
च=तथा, पर्यङ्की=पर्यङ्कासनके धारण करनेवाले, एव, स्त्रीशस्त्रादि-
विवर्जितः=स्त्री, शस्त्र आदिसे रहित हैं—स्त्री शस्त्र आदिका त्याग
कर दिये हैं, इसलिये वे, शिवः=शिव, प्रोक्तः=कहे गये हैं, च=

तथा छद्मरा=छद्मर, प्रकीर्षित=कड़े गमे हैं—छिन्न तथा छद्म
शब्दोंसे उनका वर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—चूंकि त्रिनेश्वर प्राणमनाश आदि तीर्थहर ही किसी
भी जीवकी विराधना नहीं हा ऐसे कार्योंसमस्तुत्राके धारण करने
वाले एवं निर्मिकल्प, निष्कल्प तथा निरुपाधिक स्थापितेन्द्रिय
पर्यङ्कासनसे रहनेवाले तथा स्त्री शस्त्र आदि परिग्रहसे रहित हैं ।
अर्थात् चारित्रिका यथावत् पालन हो इसलिये सिन्धुने उचित मुद्रा
एवं आसनका स्वीकार किया है तथा स्त्री शस्त्र आदि सभी परिग्रहों-
का त्याग कर दिया है । इसलिये व त्रिनेश्वरदेव ही छिन्न कल्याण
मय एवं कल्याणमय होनेके कारण छिन्न तथा छद्म शब्दोंसे कड़े
गमे हैं वर्णित है । (दूसरे वेद तो स्त्री शस्त्र आदि परिग्रह होनेसे
असुखदिसु नित्यवासे एवं जीव विराधनाके विवेकके बिना ही
यथेच्छ, निवनीय मुद्रा एवं आसनके धारण करनेवाले, अल्प
आसन एवं मुद्रासे रहित होनेके कारण छिन्नस्वरूप एवं कल्याण
कारक नहीं हैं किन्तु शस्त्रादि धारण करनेसे भयहर एवं अनिष्ट
करनेवाले ही है । इसलिये वह नाममात्रसे ही छिन्न तथा छद्म
हैं, गुण तथा धर्मसे नहीं वह अभिप्राय है) ॥ १५ ॥

साक्षरोऽपि शनाक्षरो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।

परमात्मा च बाह्यारमा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

पदार्थ—हि=चूंकि, सा=त्रिनेश्वरदेव साक्षर=धरीरी है,
इसलिये, मूर्त्त=रूप, स्वर्ष आदि गुणवाले सृष्ट है । च=और

तथैव=उसी प्रकार अनाकारः=(सिद्ध अवस्थामें) आकार-शरीर रहित हैं इसलिये, अमूर्त्तः=रूप स्पर्श आदि गुणरहित-अव्यक्त है। च=पुनः, तथैव=उस प्रकार हीं, परमात्मा=सिद्धस्वरूप, च=तथा, बाह्यात्मा=औदारिकादि शरीररहित तथा सिद्धि रहित केवल कर्म शरीरसे युक्त, तथा, अन्तरात्मा=देही हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—श्रीजिनेश्वर देव सिद्धिलाभसे पूर्व शरीरी होनेके कारण आत्माके स्वभावतः अमूर्त्त होने परमी उसके प्रदेशोंके कर्मयुक्त होनेसे कथंचित् मूर्त्त - व्यक्त है। तथा सिद्ध अवस्थामें शरीररहित होनेसे अमूर्त्त - पौद्गलिक उपाधिरूप गुणसे रहित-अव्यक्त हैं। तथा तीर्थङ्कर एव सिद्ध अवस्थामें परमात्मा, विग्रहगति कालमें बाह्यात्मा एव देही अवस्थामें अन्तरात्मा भी हैं। (इसलिये अन्यतीर्थिक देवके वर्णित सगुण आदि रूप परमार्थसे जिनेश्वरमें हीं घटित होते हैं। अन्य देवके विषयमें तो शब्दमात्र हीं हैं - यह भाव है) ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः।

परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

पदार्थ—अयम्=यह जिनेश्वर देव, अव्ययः=अविनाशी-मुक्त होनेके कारण जन्म मरणादिरूप अपाय रहित, तथा, दर्शन-ज्ञानयोगेन=दर्शन - सम्यग्दर्शन तथा केवलदर्शन एवं ज्ञान-सम्यग्ज्ञान तथा केवलज्ञानके योग-सम्बन्धसे, परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा हैं। तथा सांसारिक अवस्थामें भी, क्षान्तिः=क्षमा,

स=तथा, अहिंसा, परा-कभी मत्र नही होनेवासी, अन्धकार, अज्ञान, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है, इत्यन्मि, स=बह अत्मा हैं; परमात्मा=परम मह्य गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ — यह विनभ्रदेव तीर्थहर अकस्मान् सकल कर्मभ्रम हो आनेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अव्यय मुक्त जन्म जरा मरण आदि अवात्मासे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है । तथा सांसारिक अकस्मान् कर्म तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवनिष्पेक्ष होनेके कारण यह सगुण परमात्मा है । (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्मासे परमात्मा कहा जाता है । अन्य सब ज्ञान, दर्शन एवं कर्मा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तर ।

अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येव लिखितः शिवाः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—सिद्धिप्राप्तौ = सिद्धि मिलान पर अर्थात् मुक्त अकस्मान् परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा तु=तथा भवान्तरे=दो भगोंके मध्यकी अवस्थामें अर्थात् अज्ञानात्मिकामें, बाह्यात्मा-बाह्य औदारिक आदि चार शरीरसे अहिर्गुण आत्मा तथा देहे=देहत्व होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें अन्तरात्मा=अन्तर देहके मध्यवर्ती आत्मा भवेत्=है, इति=इस प्रकार एव=

प्रदानदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत, शिव = शिव - जिनेश्वर,
त्रिविधः—तीन प्रकारके है ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रदान दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वरही
अन्तरात्मा, बाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं ।
जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन,
ज्ञान, चारित्र्य तथा धैर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाने
है । क्योंकि सिद्ध आत्मासे जबिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मा
नहीं होते । इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है । तथा सिद्धि-
की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव
छेड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें
रहती है, तब वह बाह्यात्मा है । क्योंकि उस अवस्थामें वह
आत्मा कर्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहता
है । इसलिये बाह्या - बाहर रहनेवाली आत्मा - बाह्यात्मा हैं । एव
जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-
वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं । इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप
है । (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनों अथ घटित
गर्हा होनेके कारण वह नामधारी ही है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥

पञ्चदेवविनिर्मुक्तः सग्राहः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म जन्म, राग द्वेष आदिने
सम्पूर्ण - सहित होनेपर । सकलः = कला - भवावस्थामें होनेवाले

व=तथा, अहिंसा, परा-कभी मझ नही होनेवाली, अखैत्रिक, असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट हे इसलिये, स=वह आत्मा ही, परमात्मा=परम प्रकृत गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वह विनेश्वरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सफल कर्मवप हो जानेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अन्यत्र मुक्त, जन्म बरा मरण आदि अपापीसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है । तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है । (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्मालो परमात्मा कहा जाता है । जन्म देव ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—एसा तत्त्वार्थ है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिप्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तर ।

अन्तरात्मा मयेदेहे इत्येव विविधाः शिवाः ॥ १८ ॥

पत्रार्थ—सिद्धिप्राप्तौ = सिद्धि निस जाने पर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा, तु=तथा, भवान्तर=रा मया के मध्यस्थी अवस्थामें अर्थात् किमद्गनिकासमें, बाह्यात्मा बाह्य आदार्थिक आदि पार शरीरसे बहिर्भूत आत्मा, तथा देहे=देहमें होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें, अन्तरात्मा=अन्तर देहके मध्यस्थी आ-या मयेतु=हैं इति=इस प्रकार एव =

प्रज्ञानदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत शिव = शिव - जिनेश्वर, विविध-तीन प्रकारके हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रज्ञान दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वरही अन्तरात्मा वाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोंसे युक्त हैं। जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर. अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाने हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मा में नहीं होते। इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है। तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परमव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह वाह्यात्मा हैं। क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कर्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे बाहर रहता है। इसलिये वाह्या - बाहर रहनेवाली आत्मा - वाह्यात्मा हैं। एवं जन्म ग्रहणके बाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप है। (अन्य तीर्थिकोंके शिवमें इस प्रकारसे तीनो अथ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी ही है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥

पञ्चदेवनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म, जन्म, राग द्वेष आदिने सम्पूर्ण - नहित होनेपर 'सकलः = कला - भवावस्थामें होनेवाले

दापोसे रक्षित सकल सगुण हैं। दोषवर्जितः=दोष उक्त मन्त्ररक्षे
 रागभादि दोषोंसे वर्जित रक्षित होनेपर मुक्त अवस्थामें, पञ्चदेहरि
 निर्मुक्तः=पञ्च पाप, देह शरीरोसे विनिर्मुक्त रक्षित, तथा
 परमम्=सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट - सिद्धिस्थिररूप, पदम्=पद स्थानसे,
 सम्प्राप्तः=प्राप्त करने पर, निष्कलः=उक्त मन्त्ररक्षी कलासे रक्षित
 निर्गुण हैं ॥ १९ ॥

भाषा—जिनेश्वर देव, सांसारिक अवस्थामें संसारमें होने
 वाले कर्मजनित अन्म, जरा मरण, राग, द्वेष आदि दोषों से भक्ता
 कर्मरूप दोषसे मुक्त रहते हैं। इसस्थितिमें उक्त अवस्थामें वे सकल=
 कला सत्त्व, रजस् तथा तमस् इनतीनों गुणोंसे मुक्त होनेसे सगुण
 हैं। तथा चारित्र्य पावन आदिके मन्त्ररक्षे उक्त दोषोंसे रक्षित
 होनेपर उन दोषोंके कारण होनेवाले भौतिक, बैकिक, आहारक,
 वैषस तथा कर्मण्य इन पाप शरीरोसे मुक्त होकर सिद्धिस्थिर रूप
 परम पदको प्राप्त करसकेते हैं, उस अवस्थामें निष्कल=कलासे रक्षित-
 निर्गुण हैं। (दूसरे देव तो परिग्रह आदिके कारण दोष सम्पूर्ण ही
 हैं। इसस्थितिमें वह मामधारी निष्कल या निर्गुण ही वास्तविक रूपसे तो
 सदा सकल या सगुण ही हैं—यह मन्त्र है) ॥ १९ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्र्यदर्शनात् ॥ २० ॥

पदार्थ—(जिनेश्वर) एकमूर्तिः=मूर्ति-स्वरूप - शरीर-व्यक्ति-
 स एक है, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्म, विष्णु तथा महेश्वर

इन नामोंके, त्रय =तीन, भागा =भाग - अंश-पर्याय हैं । च=तथा, ते=वे तीनों भाग, एव =हीं, ज्ञानचारित्रदर्शनात् =ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दोंसे क्रमश, पुनर्=फिरसे - शब्दान्तरसे, उक्ता = कहे गये हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनेश्वर रूपी एक मूर्ति हैं, तथा उसके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - इन नामोंके तीन पर्याय है । वह तीनों पर्याय हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दों से कहे जाते है । अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एव ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन ये शब्द क्रमश पर्याय शब्द हैं । इस प्रकार अन्यदर्शनमें बताये गये (एक मूर्ति तीन भाग) जिनेश्वर हीं है । दूसरे देवके विषयमें 'एक मूर्ति तीन भाग' यह उक्ति असंगत है, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा—यह जानना चाहिये । ॥ २० ॥

एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

पदार्थ—एकमूर्त्ति.=एक मूर्ति, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः= ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - ये, त्रय =तीन- भागा =भाग - अंश हैं । किन्तु, परस्परम्=परस्पर, एक दूसरेसे, विभिन्नानाम्=विभिन्न - पृथक् स्वरूप - शरीरवालोंकी, एकमूर्त्तिः.=एक शरीर, कथम्=कैसे, भवेत् ? = हो सकती है ? अर्थात् परस्पर भिन्न शरीरवालोंकी तीन मूर्त्तिया होंगी, एक नहीं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अन्वयीयिकाका अभिप्राय है कि ब्रह्मस्य एक व्यक्तिके ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर ये तीनों बंध हैं। वहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर तीनों परस्पर एक दूसरेसे भिन्न स्वरूपवाले हैं। तो इन तीनोंके एक मूर्ति या एक मूर्तिके ये तीनों भाग कैसे हो सकते हैं? (एक मूर्तिके तीन अवस्था हो सकते हैं किन्तु एक ही हुई तीन मूर्तियाँ एक मूर्ति या एक मूर्तिके भागरूप तीन मूर्तियाँ नहीं हो सकती। जो जिसका भाग होता है वह एकत्र नहीं रहनेसे अपूर्ण होता है। यहाँ तो ब्रह्म सम्पूर्ण है तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरकी प्रकृति प्रकृत सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये एकत्र दूसरा भाग है ऐसा कहना अनुचित है— एसा तत्पर्य है) ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारण तु महेश्वरः ।

कार्यकारणसम्यग्भा एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

पदार्थ—विष्णु = विष्णु नामक देव कायम् = कार्य-कर्म-पुत्र
 ब्रह्मा = ब्रह्मा नामक देव क्रिया = क्रियारूप द्वार है ए = तथा,
 महेश्वरः = महेश्वरनामके देव कारणम् = कारण-निमित्त है। इस प्रकार,
 कार्यकारणसम्यग्भाः = कार्यकारण भावको प्राप्त हुई तीन मूर्तियाँ,
 एकमूर्तिः = एकमूर्ति कथम् = कैसे भवेत् ? = हो सकती है, अर्थात्
 नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

भावार्थ—पौराणिकोंका कहना है कि—महेश्वरकी प्रेरणासे ब्रह्माके शरीरसे विष्णु प्रकट हुए। एसी स्थितिसे महेश्वर निमित्त

हुए, ब्रह्मा द्वार हुए, तथा विष्णु कार्य हुए । (जैसे ढण्ड निमित्त है, चक्रा घूमना द्वार है, घट कार्य है । यहाँ ब्रह्मा बीचमें रहनेसे चक्रके प्रमनेके जैसे द्वार माने गये हैं—यह व्यान देने योग्य है ।) इस प्रकार ये तीनों कार्यकारणभावको प्राप्त हैं । तो एक मूर्ति कैसे हो सकते हैं ? । (एक ही व्यक्तिमें कार्यकारणभाव नहीं होता, किन्तु भिन्न व्यक्तियोंमें होता है, जैसे ढण्ड तथा घटमें । ढण्ड तथा घट एक मूर्ति है—ऐसा तो बालकमी नहीं कह सकता । इसलिये तीनोंकी एकमूर्ति नहीं हो सकती । किन्तु जिनेश्वरके ही उक्त प्रकारसे एक मूर्तिके तीन भाग हैं—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २२ ॥

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।

अभिजित्जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ॥ २३ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, प्रजापतिसुत=प्रजापति द्विजके पुत्र हैं । तथा, माता=ब्रह्माकी माता, पद्मावती=पद्मावती नामकी, स्मृता=कही गयी हैं । एव, जन्मनक्षत्रम्=ब्रह्माके जन्म समयका नक्षत्र, अभिजित्=अभिजित् नामका है । तो, एकमूर्ति-
=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकती है? । अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

मावार्थ—(एक मूर्तिके हीं भिन्न भिन्न अवस्थाओंके सूचक ये नाम हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इन तीनोंके माता पिता आदि भिन्न भिन्ननामके हैं । जैसे—) ब्रह्मा नामके देव प्रजापति नामके द्विजके पुत्र हैं उनकी माताका नाम पद्मावती है । तथा

जन्मनक्षत्र अभिहित है। ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति कैसे ही सक्त है।। (एक ब्यक्तिके ही भिन्न भिन्न माता पिता तथा अन्य नक्षत्र नहीं होते। इसलिये ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर एक मूर्तिके तीन भाग नहीं हैं—ऐसा अभिप्राय है। पुराणमें प्रजापतिके पुत्रको ब्रह्माध्य अवतार कहा गया है। उसके अनुसार यहाँ माता पिता आदिक लोका है। ऐसे तो ब्रह्मा विष्णुके नामिकमन्त्रसे उत्पन्न तथा तृप्तिके कर्ता माने जाते हैं—यह ध्यान देने योग्य है) ॥ २३ ॥

वसुदेवसुतो विष्णुमाता च देवकी स्मृता ।

रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

पदार्थ—विष्णुः=विष्णु नामक देव-कृष्ण, वसुदेवसुतः=वसुदेवनामक राजाके पुत्र हैं। च=तथा, माता=कृष्णकी माता देवकी=देवकी नामकी स्मृता=कही गयी है। जन्मनक्षत्रम्=कृष्णके अन्य समयका मन्त्र, रोहिणी=रोहिणी नामका है। तो एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत् ?=हो सकती है ? ॥२४॥

भावार्थ—विष्णु वसुदेव राजाके पुत्र हैं, उनकी माताका नाम देवकी है और उनका जन्मनक्षत्र रोहिणी है। ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ?। (एक ही ब्यक्तिके अनेक माता पिता नहीं हो सकते। इसलिये एक मूर्ति तीन भाग कहना असंभव है। पुराणोंमें कृष्णको विष्णुका अवतार कहा गया है। तदनुसार यहाँ उपर्युक्त बातें कही गयी हैं यह जानना चाहिये)

पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।

मूल च जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २५ ॥

पदार्थ—रुद्र.=रुद्र - महेश्वर, पेढालस्य=पेढालनामकद्विजके, सुत=पुत्र हैं । च=तथा, माता=रुद्रकी माता, सत्यकी=सत्यकी नामकी, स्मृता=कही गयी है । च=तथा. जन्मनक्षत्रम्=रुद्रके जन्मका नक्षत्र, मूलम्=मूलनामका है । तो, एकमूर्ति=एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकती है ? ॥ २५ ॥

भावार्थ—रुद्र, जो पुराणोंमें महेश्वरके अवतार कहे गये हैं, वह पेढाल द्विजके पुत्र है, उनकी माताका नाम सत्यकी है, तथा जन्मनक्षत्र मूल है । ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? (जो तीन भाग कहे गये हैं, उनके प्रत्येकके माता पिता तथा जन्मनक्षत्र भिन्न भिन्न हैं । किन्तु एकमूर्तिके माता आदि एक ही होते हैं । इसलिये ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एकमूर्तिके तीन भाग नहीं है—यह आशय है) ॥ २५ ॥

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।

कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, रक्तवर्ण =लाल कान्तिवाले, भवेत्=है । महेश्वर =महेश्वरनामके देव, श्वेतवर्ण =शुद्ध कान्ति-वाले है । तथा, विष्णु =विष्णुनामके देव, कृष्णवर्ण =कृष्णकान्ति-वाले, भवेत्=है । तो, एकमूर्ति =एकमूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकते हैं ॥ २६ ॥

मात्पाथ—पुराणोंमें तीनों देवोंकी क्षीरकान्ति मिल मिल बर्णकी कही गयी है। जैसे ब्रह्मा स्वाम् कान्तिवासे, महेश्वर श्वेत कान्ति वाले तथा विष्णु कृष्ण कान्तिवासे कहे गये हैं। किन्तु एक मूर्तिकी एक प्रकारकी ही कान्ति होती है, अनेक प्रकारकी नहीं। इसलिये मिल मिल बर्णके दानके कारण तीनों देव मिल ही हैं, एक मूर्तिके तीन भाग नहीं। इसलिये उन तीनों देवोंको एक मूर्ति तीन भाग कहना अशुभ है ऐसा अभिप्राय है ॥ २६ ॥

अथशुक्ली भवेत्प्रजा द्वितीयः शूलधारकः ।

तृतीयः शङ्खधराह एकमूर्ति कथं भवेत् ॥ २७ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव, अथशुक्ली=श्वेतस्वरके स्मृत्नवाले भवेत्=हैं द्वितीयः=दूसरे, अर्थात् महेश्वर नामके देव, शूलधारक=शूल त्रिशूलक धारक-धारण करनेवाले अर्थात् त्रिशूल-स्मृत्नवाले तथा, तृतीयः=तीसरे विष्णुनामके देव, शङ्ख धराह=शूल तथा चक्रक शङ्ख-स्मृत्नवाले कहे गये हैं। तो, एकमूर्ति=एकमूर्ति कथम्=कैसे, भवेत् ? =हा सकते हैं। ॥ २७ ॥

मत्पार्थ—पुराणोंमें प्रत्येक देवके स्मृत्न मिल-मिल प्रकारके कहे गये हैं। जैसे ब्रह्माका स्मृत्न श्वेतस्वर महेश्वरका स्मृत्न त्रिशूल तथा विष्णुका स्मृत्न शङ्खधरक कहे गये हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि एक देवक अनेक अस्त्रार होने परभी स्मृत्न दूसरा

नहीं होता। इसलिये लक्षण भिन्न होनेसे उक्त तीनों देव एकमूर्ति नही हो सकते, किन्तु भिन्न मूर्ति ही है। ऐसी स्थितिमें एक मूर्ति तीन भाग कहना अत्यन्त व्युक्त है ॥ २७ ॥

चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।

चतुर्भुजो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

• पदार्थ-ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, चतुर्मुखः=चारमुखवाले, भवेत्=है, अथ=तथा, महेश्वर =महेश्वर नामके देव, त्रिनेत्र.=तीन नेत्र वाले है, विष्णुः=विष्णु नामके देव, चतुर्भुज =चार भुज-बाहुवाले, भवेत्=है। तो, एकमूर्ति =एक मूर्ति, कथम्=कैसे, भवेत्=हो सकते हैं ? ॥ २८ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें ब्रह्मा चतुर्मुख कहे गये हैं, (किन्तु तीन नेत्रवाले नहीं।) तथा महेश्वर त्रिनेत्र कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख नहीं।) विष्णु चतुर्भुज कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख या त्रिनेत्र नहीं।) तो एक मूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? यदि मूर्ति एक माना जाय तो विष्णुकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्मुख, एवं महेश्वरकोभी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज तथा ब्रह्माकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्भुज कहा जाता। किन्तु ऐसा नहीं है, चतुर्भुजसे विष्णु तथा त्रिनेत्रसे केवल महेश्वर तथा चतुर्मुखसे केवल ब्रह्मा ही समझे जाते हैं। इसलिये एक मूर्ति तीन भाग नहीं, किन्तु तीनों पृथक् पृथक् मूर्ति ही हैं ॥ २८ ॥

व्यवहार नहीं है । इसलिये तीनोंदेव एकमूर्ति तीनमात्र नहीं हैं—
एक मात्र ही) ॥ ३१ ॥

कृते जातो भवेत्प्रजा संसार्या च महेश्वरः ।

विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्ति कथंमवेत् ? ॥ ३२ ॥

पदात्र—प्रजा=प्रजातामके देव, कृत=कृत्युग-सत्स्युगम्,
जातः=उत्पन्न मवेत्=हुए थे, च=तथा महेश्वरः=महेश्वरनामके
देव त्रेतायाम्=त्रेतायुगमें (उत्पन्न हुए थे) च=और विष्णुः=
विष्णुनामके देव, द्वापरे=द्वापरनामक युगमें, जातः=उत्पन्न हुए थे।
ता एकमूर्तिः = एकमूर्ति, कथम् = कैसे, मवेत् ? = हो सकते
हैं ? ॥ ३२ ॥

भाष्य—पुराणोंमें सत्स्युग त्रेता द्वापर तथा कल्मियुग
में चारयुग कहे गये हैं । तथा सत्स्युगमें प्रजाका त्रेतायुगमें मह
श्वरक, द्वापरयुगमें विष्णुका अवतार वर्णित है । ता एकमूर्ति कैसे
हो सकते हैं ? (यदि एकमूर्ति हो तो प्रत्येक देवका पृथक् अवतार
का वर्णन असुक्त हो जायगा । एकमूर्ति मानने पर एक देवका
अवतार दूसरे देवकामी अवतार कदा जायगा । किन्तु ऐसा
व्यवहार नहीं है । एक देवका अवतार दूसरे देवका नहीं कदा
जाता । इसलिये तीनों देव एकमूर्ति नहीं हैं—ऐसा भाष्य है)

॥ ३२ ॥

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्म चारितमव्ययम् ।

सम्यक्त्वं तु

॥ ३३ ॥

पदार्थ—ज्ञानम्=केवलज्ञान, सदा=सर्वदा, त्रिष्णुः=विष्णु,
 प्रोक्तम्=कहा गया है, चारित्रम्=चारित्र - सर्व सवाद्यविरति - सधम,
 ब्रह्मा=ब्रह्मा, उच्यते=कहा जाता है, तु=तथा, सम्यक्त्वम्=
 सम्यक्त्व - सम्यग्दर्शन - जिनोक्ततत्त्वोंमें श्रद्धा, शिव =शिव - महेश्वर,
 प्रोक्तम्=कहा गया है । इसलिये, अर्हन्सूक्ति=तीर्थङ्करकी मूर्ति-
 तीर्थङ्कर, त्रयात्मिका=तीनों - ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरस्वरूप है
 ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि
 परतीर्थिकोके महादेवके विषयमें 'एकमूर्ति तीन भाग' वाली बात
 घटित नहीं होती । तथा पूर्वमें यह भी कहा जा चुका है कि अर्हत
 हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शनके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर
 स्वरूप हैं । उसका म्पटीकरण करते हुए करते हैं कि—) केवल-
 ज्ञान सदा हीं विष्णु कहा गया है । (पुराणोंमें पालक तथा व्यापक
 देवको विष्णु कहा गया है । केवलज्ञान कर्मशत्रुका नाशकरके
 उससे रक्षण करता है, तथा सर्वद्रव्यपर्यायविषयक होनेसे व्यापक-
 नी है, इसलिये पारमार्थिक रूपसे केवलज्ञान हीं विष्णु है—यह
 भाव है ।) चारित्र सदा ब्रह्मा कहा जाता है । (पुराणों में जगत्
 के सर्जन करनेवालेको ब्रह्मा कहा गया है । चारित्रभी सिद्धिरूपी
 स्रष्टिका करनेवाला - सिद्धिप्रद है, इसलिये वास्तविक रूपसे चारित्रहीं
 ब्रह्मा है—यह अग्निप्राय है ।) तथा सम्यक्त्वको शिव कहा गया
 है । (पुराणोंमें जगतके सहार करनेवालेको शिव-महेश्वर कहा
 गया है । सम्यक्त्वमी कर्मोंके क्षयोपशमका हेतु होनेसे शिव कहा

जाता है । स्मोक्ति वस्तुतः-कर्मके नाशसे ही ब्रह्म-भक्त्य नष्ट होता है । इसलिये सम्यक्त्व ही वास्तविक रूपसे शिव है—यह आशय है । इन तीनों गुणोंसे युक्त महेश्वरी तीर्थहर हैं । इसलिये वेहीं एकमूर्ति तीन ब्रह्मा, त्रिपुणु तथा महाेश्वररूप भाग हैं क्योंकि तीर्थहर एकमूर्ति हैं, एवं उनके केवल दर्शन ज्ञान का चारित्ररूपी तीन पर्याय ही ब्रह्मा त्रिपुणु तथा महाेश्वररूप भाग हैं—ऐसा तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

श्रितिजलपवनहुताशनयज्ञमानाऽऽकाशस्तोमस्यर्पाः ।

इस्थतेऽथौ मगरति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ ३४ ॥

पदार्थ—श्रितिजलपवनहुताशनयज्ञमानाऽऽकाशस्तोमस्यर्पा-
रूपाः=श्रिति पृथिवी अन्न, पवन, हुताशन—अग्नि, यजमान प्रती,
आकाश सोम अन्न तथा सूर्य आत्मा नामवासे इति एते=ये
सभी अष्टौ=आठ, सुगुणाः=उत्तमगुण मगरति=भक्तान् वीत
रागे=वीतरागमें गोताः=वर्णित हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—(पुराणोंमें परतीर्थिक महादेवकी पृथिवी आदि आठ
मूर्तियाँ कही गयी हैं । किन्तु एकमूर्ति अष्टमूर्ति नहीं हो सकती -
यह बात पूर्वमें एकमूर्तिके तीर्थमूर्ति नहीं होनेमें कही गयी युक्तियोंसे
ही स्पष्ट है । किन्तु) वीतरागके श्रिति, अन्न, पवन, हुताशन,
यजमान, आकाश, सोम तथा सूर्य ये आठ उत्तमगुण कहे गये हैं ।
(इसलिये वीतराग ही अष्टगुणयुक्त होनेके कारण अष्टमूर्ति हैं यह
मूल है) ॥ ३४ ॥

क्षितिस्त्पुच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।

निःसङ्गता भवेद्वायुर्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

पदार्थ—क्षान्ति.=क्षमा, क्षितिः=क्षिति, इति=इस शब्दसे, उच्यते=कही जाती है । च=और, या=जो, प्रसन्नता=निर्मलता-रूप गुण है, वह, जलम्=जल (कहा जाता है ।) निःसङ्गता=वीतरागपन, वायुः=पवन नामका गुण, भवेत्=है । तथा, योग =शुक्लध्यान, समाधि, हुताशु = अग्निनामका गुण, उच्यते = कहा जाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—(वीतरागके क्षिति आदि आठ गुणोंका स्वरूप बताते हैं, जैसे—) क्षिति - पृथिवी सर्वसहा कही जाती है । वह शुभ या अशुभ - सब कुल सहन करती है । इसलिये शक्ति रहने परभी किसीके अपराधका सहनरूप क्षमा ही क्षितिनामका गुण कहा गया है । जल निर्मल होता है तथा दूसरेको भी निर्मल करता है, इसलिये कर्मके सर्वथा क्षय होजानेसे आत्माकी निर्मलताही जलनामका गुण है । किसी भी विषयमें रागका नहीं होना - वीतरागता ही - पवन नामका गुण है । क्योंकि पवन मिट्टी या पानीके जैसे किसीभी वस्तुमें आसक्त नहीं होता । तथा अग्नि सभी पदार्थोंको जला देता है, योगभी सकल कर्मोंका नाश करता है । इसलिये योग अग्निनामका गुण कहा गया है ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।

अलेपकत्वादाकाशसङ्गाशः सोऽधिधीयते ॥ ३६ ॥

पदार्थ—आत्मा = जीव, तीर्थहरकी आत्मा, तपोदान
 दयादिभिः—तप दान तथा दया आदिगुणोंसे, यजमानः—यजमान
 ऋषी, भवेत्=होती है। तथा, सः—यह आत्मा, बलेपक्षत्वात्=
 कहींभी स्थित आसक्त नहीं होनेसे, अथवा कर्ममूले स्थित नहीं
 होनेके कारण आकाशसङ्घातः=आकाशसंघट्ट, अग्निपीपते=कधी
 जाती है ॥ ३६ ॥

मार्थ—आत्मा तप, दान, दया आदि गुणोंके होनेसे
 यजमानरूप है। अर्थात् तप दान दया आदि ही यजमान नामके
 गुण हैं। तथा उनगुणोंके होनेसे आत्मा ही यजमान है। क्योंकि
 ऋषीके पावन करनेवालेको ही यजमान कहा जाता है। तथा यह
 आत्मा कर्मसे रहित होनेसे निर्लिप्त हो जाती है। अर्थात् यजमान
 सफलकर्मोंके समय हो जाने पर पुन उसने कर्मलेप नहीं करता।
 इसलिये निर्लिप्त आत्मा आकाशसङ्घात कधी जाती है। अथवा आत्मार्थी
 निर्लिप्तता आकाश नामका गुण है ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिर्बन्धुर्वीतरागा समीक्ष्यते ।

ज्ञानप्रकाशश्चरित्येन स आदित्योऽग्निपीपते ॥ ३७ ॥

पदार्थ—वीतरागाः = वीतरागा श्रीजिनेश्वर, सौम्यमूर्ति
 रुचिः=सौम्य मधुर मूर्ति शरीर, रुचि अग्नि, मधुर-शरीर
 कान्तिवाले हैं इत्यन्वये, बन्धुः=बन्धुनाके भित्ते, समीक्ष्यते=धीसते
 हैं। तथा, सः=यह वीतराग जिनेश्वर, ज्ञानप्रकाशश्चरित्येन=ज्ञान-
 ज्ञानके द्वारा प्रकाशकत्व मध्यशक्तत्व मध्यस्थितकरनेका स्वभावसे

होनेके कारण, आदित्यः=सूर्यसमान, अभिधीयते=कहे जाते हैं
॥ ३७ ॥

भावार्थ—वीतराग श्रीजिनेश्वरके शरीरकी कान्ति मधुर है, इसलिये वह चन्द्रके जैसे दीखते हैं। अर्थात् उनके शरीरकी मधुर आहाटक कान्ति चन्द्रनामका गुण है। (क्योंकि चन्द्रभी आहाटक है।) तथा वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते हैं। अर्थात् सभी प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका उपदेश देकर उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करते हैं, तथा मुक्तिमार्गका प्रकाशन करते हैं। अथवा वीतरागका ज्ञान सर्वपदार्थको ग्रहण - प्रकाशित करता है, इसलिये वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्में प्रकाशमान हैं, अतः वे सूर्यसमान कहे जाते हैं। (क्योंकि सूर्यभी अपने किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है। इसलिये वीतराग जिनेश्वरका ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशन सूर्यनामका गुण है - यह भाव है। यहाँ इस प्रकार क्षिति आदि आठ गुणोंके होनेसे वीतराग जिनेश्वर अष्टमूर्ति हैं। किन्तु परतीर्थिकोंके अनुसार एकमूर्तिकी अष्टमूर्ति होना असम्भवित है। इसलिये परतीर्थिकोंके दृष्ट महादेव अष्टमूर्ति नहीं हैं। तथा उनमें रागद्वेष आदि होनेसे क्षमा आदि उत्कृष्टप्रकारके आठ गुणभी नहीं हैं। अतः इस प्रकारसे भी वे अष्टमूर्ति नहीं होसकते। किन्तु शब्दमात्रसे ही अष्टमूर्ति हैं - यह निष्कर्ष है) ॥ ३७ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।

अहंस्तस्य नमस्कारः कर्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

पदार्थ—अर्हन् = श्रीवीतराग भरिहन्त तीर्थहर, रागद्वेष-
विषमिन्त = राग-विषयासक्ति, द्वेष-भ्रान्ति विषयोने अभीति, विकर्षित-
रहित, रागद्वेषसे रहित हैं—वीतराग हैं । इसलिये, पुण्यपापविनिर्मुक्तः
= पुण्य-शुभकर्म, पाप-अशुभकर्म, विनिर्मुक्त रहित, पुण्य तथा पापसे
रहित मुक्त हैं । अतः, शिबम् = कल्याणकी, इच्छता = इच्छा
करनेवालेको = कल्याण चाहनेवालेको तस्य = उस वीतराग अस्ति-
हन्तप्र ही, नमस्कार = नमस्कार प्रणाम-कन्दन-भक्ति, कर्षण्य =
करना चाहिये । कल्याण चाहनेवाले वीतरागकी ही भक्ति करें ॥ ३८ ॥

मातृत्वं तीर्थहर रागद्वेषसे रहित वीतराग हैं तथा सम्पूर्ण
ज्ञान एवं आरिषक पाकनसे उनके सभी कर्मोंका क्षम हो गया है ।
अतः वे मुक्त हैं । क्योंकि रागद्वेषसे तथा पुण्य पापसे मुक्त ही
मुक्त कहे जाते हैं । इसलिये कल्याण चाहने वालेको उनकी ही भक्ति
करनी चाहिये । (जो देव रागद्वेष आविसे मुक्त हैं, वे मुक्त नहीं
हैं । अतः उनकी भक्तिसे रागद्वेषकी ही क्षम हो सकता है कल्याण
मुक्तिका नहीं । अतः अन्य देवोंकी भक्ति त्याग्य है—यह मन्त्र है)
॥ ३८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णु रफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।

इकारेण हरः प्रोक्तस्तस्माज्जन्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥

पदार्थ—अकारेण = अर्हन् ' यह मन्त्र अपने आदिमें स्थित
अकाररूप बर्षसे, विष्णु = विष्णुरूप भवेत् = है तथा रफे =
' अर्हन् ' इस मन्त्रके रफेरूप बर्षमें, ब्रह्मा = ब्रह्मा नामके देव,

व्यवस्थित = रहे हुए है । हकारेण = 'अर्ह' इस मन्त्रके हकार-
रूप वर्णसे, हर = महेश्वर, प्रोक्त = कहे गये हैं । तस्य = उस हकार-
रूप वर्णके, अन्ते = अन्तमें-अपरमें रहा हुआ अर्धचन्द्रविन्दु, परमम्
= सर्वोच्च, पदम् = पद - सिद्धशिला है ॥ ३९ ॥

भावार्थ — जिनेश्वर श्री अरिहन्त देवका 'अर्ह' यह मन्त्र
ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा परमपद स्वरूप है । जैसे अकाररूप वर्ण-
अच्युत आदि विष्णुवाचक शब्दोंमें अकार होनेसे - विष्णुका प्रतीक
है । तथा रेफरूप वर्ण-ब्रह्माशब्दमें रेफ होनेसे - ब्रह्माका प्रतीक
है । एव हकाररूपवर्ण - हर आदि महेश्वरवाचक शब्दोंमें हकार
रहनेसे - महेश्वरका प्रतीक है । तथा अर्धचन्द्रविन्दु सिद्धशिलाके
अकारका होनेसे - परमपदका प्रतीक है । और 'अर्ह' इस
मन्त्रके देवता तीर्थकर जिनेश्वर हैं । इसलिये जिनेश्वर, शब्दसे
ब्रह्मा आदि स्वरूप हैं । गुणसे जिनेश्वरका ब्रह्मा आदि स्वरूप होनेका
पूर्वमें प्रतिपादन किया जा चुका है ॥ ३९ ॥

अकार आदि धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।

स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

पदार्थ — अकार = 'अर्हन्' इस पदके आदिका अकाररूप
वर्ण, आदिधर्मस्य = आदि - मुख्य तथा सर्व प्रथम उपदिष्ट होनेके
कारण सभी धर्मोंके आदिमूल धर्मका च = तथा, मोक्षस्य = मोक्षका,
आदि मोक्षका, प्रदेशक = प्रतिपादक है । तथा, स्वरूपम् = अरिहन्तके
स्वरूपमूल, परमज्ञानम् = परम - सर्वोत्कृष्ट ज्ञान - केवलज्ञान - आदि

शाम है, तेन=इसलिये, अकार=अर्हन् पदका आविष्कृत अकार, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४० ॥

मातृवर्ण अकाररूप वर्ण मातृवर्णपाठमें प्रथम अक्षर है, तथा अर्हन् पदकेभी आविर्भवे है। इसलिये यह, तीर्थहरने मुख्य तथा सर्वप्रथम युगदिमें धर्मका उपदेश किया जा, तथा वे ही सर्वप्रथम धर्मिकता पावन कर मुक्त हुए थे, एवं वे परमज्ञान के स्वरूप थे इन सभी मातृवर्णों का योक्तक है। इसलिये अर्हन् पदके आविर्भवे अकार कहा गया है। अर्थात् अर्हन् पदका प्रथम अक्षर अकार तीर्थहरसे उपदिष्ट धर्म ही आविर्भवे है, तथा वे ही धर्मिकता प्राप्त करके मुक्त हुए थे—ऐसा सूचित करता है। इन सभी धर्मोंकी सूचना के लिये ही अर्हन् पदमें सर्वप्रथम अकाररूप अक्षर कहा जाता है—यह आशय है ॥ ४० ॥

रूपिद्रव्यस्वरूप वा दृष्टा ज्ञानेन चक्षुषा ।

दृष्टं लोकमलोक वा रक्षारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

पदार्थ-ज्ञानेन=ज्ञानरूप, चक्षुषा=नेत्रसे रूपिद्रव्यस्वरूपम् =रूपि मूर्त द्रव्य पदार्थ, स्वरूप तत्त्व, पदार्थके अनेकान्तरूप यथावत्तत्त्वो दृष्टा=गणकर, वा=पुन, लोकम्=लोक रक्षुप्रमाण क्षेत्रकाशमें अवस्थित सभी द्रव्यों तथा उनके पर्यायों, वा=तत्त्व अलोकम्=क्षेत्रके अनिश्चित अलोककाकाशको, दृष्टम्=(केवलज्ञान रूपी नेत्रसे) जाने थे तेन=इसलिये रक्षार=अर्हन् पदमें रेफ, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ - तीर्थकरने संसारी अवस्थामें मति, श्रुत तथा अवधि-
जानसे युक्त होनेके कारण सभी पुद्गलोंके यथार्थ तत्त्वको ज्ञानरूपी
नेत्रसे जानकर, (दीक्षा ग्रहणके बाद घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान
होनेपर उस केवलज्ञानरूपी नेत्रसे) लोक तथा अलोकको देखे-जाने
धे। इसलिये अर्हत् पदमें प्रथम रूपी द्रव्योंके पश्चात् सभी पदार्थोंके
क्रमशः जानका सूचक रेफ कहा जाता है। (क्योंकि रूपिशब्दमेंभी
रेफ वर्ण है, तथा अर्हन्-तीर्थकर केवलज्ञानी हैं। इसलिये
दोनोंके क्रमका सूचन रेफके द्वारा किया जाता है) ॥ ४१ ॥

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीपहाः ।

हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

पदार्थ - येन=चूँकि, रागाः = विषयासक्तियोंका, च=और,
द्वेषाः=अनिष्ट विषयमें अप्रीतियोंका, हताः=नाश - त्याग किये, च=
पुनः, मोहपरीपहा =मोह - ममता, परीपह-भूख, प्यास, ठन्डी, गरमी
आदि शईम परीपह - इन सभीका, हता =नाश - त्याग तथा सहन
किये हैं। तथा, कर्माणि=शुभ तथा अशुभ कर्मोंका, हतानि=क्षय किया
है, तेन=इसलिये - राग, द्वेष, मोह, परीपह तथा कर्मोंका नाश
करनेके कारण, हकार =अर्हन् पदमें हकाररूप अक्षर, प्रोच्यते=
कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ - चूँकि तीर्थकरदेवने सभीप्रकारके राग, द्वेष, मोह,
परीपह तथा कर्मोंका (अपने असाधारण एवं अलौकिक ज्ञान तथा

चारित्र्यके बलसे) माद्य किया है। इसलिये राग आदिके इननक्षत्र सूचक इक्षररूप अक्षर अर्हन् पदमें कहा जाता है ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाप्रमिसम्पूर्णः प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।

घ्रास्वा पुष्य च पापं च नक्षरस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

पदार्थ पुष्यम्=शुभकर्म, च=और, पापम्=अशुभकर्मसे, च=भी, घ्रास्वा=अनक्षत्र, सन्तोषेण=सन्तोष आत्मदृष्टिसे, अमि सम्पूर्णः=सभी प्रकारसे भरे हुए—आत्मसुखमम, च=तथा, प्राति हार्याऽष्टकेन=वैत्यरक्ष छत्र तुन्दुमि आदि आठ प्रातिहार्योसे (अमिसम्पूर्णः=विराजित) हैं। तेन=इसलिये, नक्षरः=अर्हन् पदमें नक्षररूप अक्षर प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४३ ॥

मानार्थ अरिहन्त श्रीतीर्थेश्वर देवने पुष्य तथा पाप (एव उनके हेतुओं)को अनक्षर (सम्पूर्ण माद्य होनेसे आत्मबोध्य त्याग करके) सन्तोष—उपशमसे युक्त हुए तथा अतिष्ठमके प्रयत्नसे समस्त सरणमें वेत्सवृद्ध, छत्र, तुन्दुमि आदि प्रातिहार्योसे विराजित हुए। इसलिये अर्हन् पदमें नक्षर कहा जाता है। अर्थात् अर्हन् पदमें रहा हुआ नक्षर तीर्थेश्वरक पुष्य पापके तत्त्वज्ञान उपशम तथा प्रातिहार्याऽष्टकका सूचक है ॥ ४३ ॥

मनषीजाऽङ्गुष्ठरञ्जना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।

अद्या वा विष्णुर्वा हरो विनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कठिकात्मर्षिर्वागीदेमन्त्राचार्यविरचितं श्रीमहादेवस्तोत्रं

समाप्तम् ॥

पदार्थ—यस्य=जिसदेवके, भवबीजाऽङ्कुरजननाः=भव-
संसार, बीजाऽङ्कुर - मूलभूतकारण, जनन - उत्पन्नकरनेवाले - साधन -
संसारके मूलभूतकारणरूप कर्म तथा जन्म आदिके हेतुभूत, रागा-
दयः=रागद्वेष आदि, क्षयम्=नाशको, उपगताः=प्राप्त होगये हैं -
नष्ट होगये हैं । वह, ब्रह्मा = ब्रह्मानामके देव हों, वा = अथवा,
विष्णुः=विष्णुनामके देव हो, वा=अथवा, हरः=महेश्वरनामके देव
हों, वा=अथवा, जिनः=जिनेश्वर तीर्थकर हों, तस्मै=उन वीतराग-
देवको, नमः=मेरा नमस्कार है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—भवके आदि तथा मुख्यकारणरूप रागद्वेष आदि
जिन देवके नष्ट होगये हैं, अर्थात् जो देव वीतराग हैं । वे नामसे
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर या जिनेश्वर - कोईभी हों, उनको मेरा प्रणाम
है । (क्योंकि गुणसे ही किसीकी पूजा होती है, केवल व्यक्तिकी
नहीं । ऊपरके विवेचनोंसे - जिनेश्वर ही वीतराग है, ब्रह्मा आदि
देव नहीं-यह स्पष्ट हो चुका है । फिरमी अपनी तटस्थता सूचित की
गयी है । व्यक्ति कोईभी हों, गुणग्राहीको व्यक्तिके विषयमें पक्षपात
नहीं होता है, किन्तु गुणके विषयमें ही पक्षपात होता है - यह
ध्यान देने योग्य है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहादेवस्तोत्रे तपोगच्छाविपतिशासनसम्राट्कन्दम्वगिरि-
प्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टाल-
ङ्कार - समयज्ञ - शान्तमूर्त्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर - पट्टभर -

सिद्धान्तमहोदधि-माहृतविदितारवाषाढपर्यभीरिवक्त्रसूरसूरीधरद्वि-
 पन्यामभीर्त्तिचन्द्ररिजयगणिविरचिन. फलैर्तिफलाख्यो द्विती-
 माशानुवाद समाप्त ॥

॥ धीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ श्री ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित
कीर्तिकलाव्याख्या-सहितानि पुस्तकानि—

द्वालिङ्गिकाद्वयी (क स. हेम. विरचिता-अयोगव्यवच्छेदद्वालिङ्गिका
तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वालिङ्गिका) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या
सहिता ।

द्वालिङ्गिकाद्वयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

श्रीवीतरागस्तवः (क स हेम विरचित) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या-
सहित ।

श्रीवीतरागस्तवः कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।

स्तोत्रत्रयी (क स हेम विरचितानि सकलार्हत्त्वोत्रवीरजिनस्तोत्र-
महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाख्यसंस्कृतहिन्दीव्याख्यासहिता ।

स्तोत्रत्रयी कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता ।

प्राप्तिस्थानम्—

श्रीजनकलाल कान्तिलाल

लिम्बडी शेरी, पेटलाद

वाया-आणन्द (गुजरात)